## आप पढ़े-लिखे लोगों तक हमारी आवाज पहुँचा दीजिए

-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

हमारे विचारों को आप पढ़िए और हमारी आग की चिनगारी को लोगों में फैला दीजिए । आप जीवन की वास्तविकता के सिद्धान्तों को समझिए । ख्याली दुनियाँ में से निकलिए । आपके नजदीक जितने भी आदमी हैं उनमें आप हमारे विचारों को फैला दीजिए । यह काम आप अपने काम के साथ-साथ भी कर सकते हैं । आप युग साहित्य लेकर अपने पड़ोसियों को पढ़ाना शुरू कर दीजिए । उनको हमारे विचार दीजिए । हमको आगे बढ़ने दीजिए, सम्पर्क बनाने दीजिए ताकि हम उन विचारशीलों के पास, शिक्षितों के पास जाने में समर्थ हो सकें । इससे कम में हमारा काम बनने वाला नहीं । जो हमारा विचार पढ़ेगा-समझेगा, वही हमारा शिष्य है । हमारे विचार बड़े पैने हैं । दुनियाँ को हम पलट देने का दावा जो करते हैं वह सिद्धान्तों से नहीं, बल्कि अपने सशक्त विचारों से करते हैं । आप इन विचारों को फैलाने में हमारी सहायता कीजिए ।

अब हमको नई पीढ़ी चाहिए । इसके लिए आप पढ़े-लिखे विचारशीलों में जाइए । उनकी खुशामद कीजिए, दरवाजा खटखटाइए और किसी भी तरह हमारी विचारधारा उन तक पहुँचाइए । हमने सारे विश्व को अपना कार्यक्षेत्र बनाया है । विचार क्रांति अभियान आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है । इस युग की सभी समस्याएँ इसलिए पैदा हुई हैं कि आदमी की अक्ल खराब हो गई है । न पैसा कम है, न कोई चीज कम है, बस अक्ल खराब है । बस इस अक्ल को ठीक करने के लिए ही हमें विचार क्रांति में हिस्सा लेना चाहिए । व्यक्ति, समाज, देश, धर्म और संस्कृति के विकास एवं विस्तार करने तथा मानवीय भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए ज्ञान यज्ञ का विस्तार करना चाहिए । आप घर-घर में जाइए, जन-जन के पास जाइए । अलख जगाइए । नवयुग का संदेश सुनाइए । हमारा साहित्य पढ़वाइए । अगर आपने यह किया तो हमारा दावा है कि युग अवश्य बदलेगा ।

मातृ सत्ता श्रद्धांजलि पुस्तकमाला-७४

# कार्यकर्ता आचार संहिता
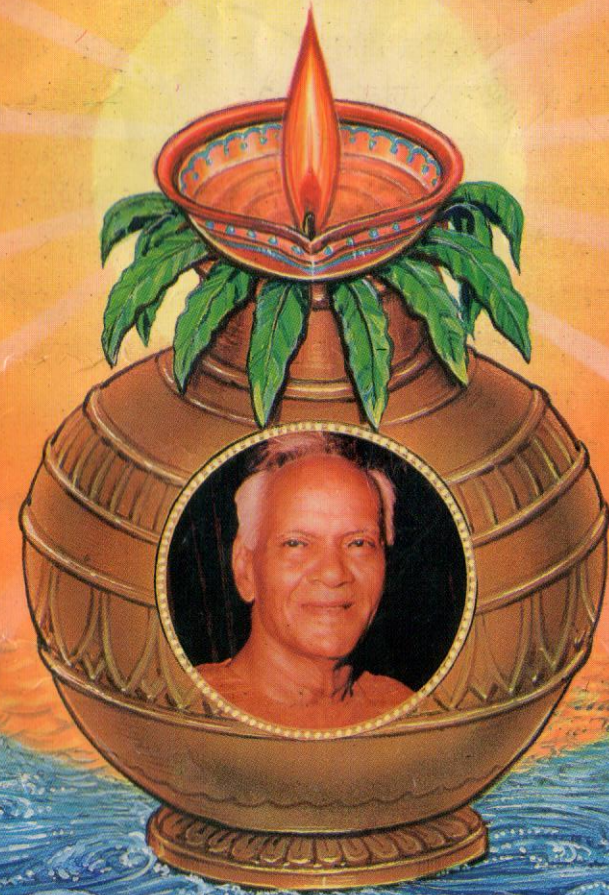
"व्यक्ति के परिवर्तन से ही समाज, विश्व एवं युग का परिवर्तन संभव है । इस धरती पर स्वर्ग का वातावरण सृजन करने के लिए हमें जन मानस का स्तर बदलना पड़ेगा । आज जिस स्वार्थपरता, संकीर्णता, असंयम और अनीति ने अपने पैर पसार रखे हैं, उसे हटाने का प्रयत्न करना होगा और उसके स्थान पर सज्जनोचित सद्‌भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठापित करना पड़ेगा । यह कार्य केवल कहने-सुनने से, लिखने-पढ़ने से संभव नहीं । इसके लिए प्रयत्न यह करना होगा कि परिष्कृत आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार लोग अपना जीवन क्रम बनायें ।"

-वेदमूर्ति पं. श्रीराम शर्मा आचार्य -माता भगवती देवी शर्मा

मातृसत्ता श्रद्धांजलि पुस्तकमाला—७४

ॐ

# कार्यकर्ता आचार संहिता

卐

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

卐

संकलन एवं संपादन :
पं. लीलापत शर्मा

卐

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

द्वितीय बार — १९९६ मूल्य—६ /— रु.

## दो शब्द कार्यकर्ताओं से

प्रत्येक संस्था निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने या पूरा करने के लिए स्थापित की जाती है । उन उद्देश्यों को प्राप्त करने में संलग्न सदस्यों और कार्यकर्ताओं के लिए एक आचार संहिता का निर्माण करना भी आवश्यक समझा जाता है ताकि सदस्य इधर-उधर भटकने न पाएँ और आचार संहिता के दायरे में रहते हुए ही अपना कार्य कर सकें । परम पूज्य गुरुदेव भी अपने संगठन के कार्यकर्ताओं को समय-समय पर निर्देश देते रहे हैं और उनसे अपनी अपेक्षाओं को प्रकट करते रहे हैं । उनके ये निर्देश और अपेक्षाएँ ही हम कार्यकर्ताओं की आचार संहिता है ।

राज्य अपने नागरिकों के लिए कानून बनाता है और उनका उल्लंघन करने वालों को दंडित करता है । समाज भी अपने घटकों के लिए विधि-विधान बनाता है और उनका पालन न करने वालों को सामाजिक दंड देता है । संस्थाएँ भी अपने सदस्यों के निलंबन-निष्कासन का दंड विधान बनाती हैं ।

अपनी एक स्वयंसेवी संस्था है । हमारा सर्वोत्तम दंड विधान यही हो सकता है कि कार्यकर्ता प्रत्येक रात सोने से पूर्व आत्मालोचन करें कि हमसे आज आचार संहिता का उल्लंघन तो नहीं हुआ और यदि हुआ है तो उसकी पुनरावृत्ति न होने देने का संकल्प लें । प्रातः उठने पर पुनः उस संकल्प को दोहराएँ और दिन भर सजगता बरतें । यदि हम सबने यह किया तो अपना युग निर्माण का स्वप्न शीघ्र ही पूरा होकर रहेगा ।

—पं. लीलापत शर्मा

## अनुक्रमणिका



# हर लोकसेवी के लिए उपासना एक अनिवार्य उपक्रम

आत्मोत्कर्ष के लिए उस महाशक्ति के साथ घनिष्ठता बनाने की आवश्यकता है जिसमें अनंत शक्तियों और विभूतियों के भंडार भरे पड़े हैं । बिजली घर के साथ घर के बल्ब पंखों का संबंध जोड़ने वाले तारों की फिटिंग सही होने पर ही वे ठीक तरह अपना काम कर पाते हैं । परमात्मा के साथ आत्मा का संबंध जितना निकटवर्ती एवं सुचारु होगा, उसी अनुपात से पारस्परिक आदान-प्रदान का सिलसिला चलेगा और उससे छोटे पक्ष को विशेष लाभ होगा । दो तालाबों के बीच नाली खोदकर उनका संबंध बना दिया जाय तो निचले तालाब में पानी दौड़ने लगेगा और देखते-देखते दोनों की ऊपरी सतह समान हो जाएगी । पेड़ से लिपट कर बेल कितनी ऊँची चढ़ जाती है इसे सभी जानते हैं । यदि उसे वैसा सुयोग न मिला होता अथवा वैसा साहस न किया होता तो वह अपनी पतली कमर के कारण मात्र जमीन पर फैल भले ही जाती पर ऊपर चढ़ नहीं सकती थी । पोले बाँस का निरर्थक समझा जाने वाला टुकड़ा जब वादक के हाथों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तो बाँसुरी वादन का ऐसा आनंद आता है जिसे सुनकर सांप लहराने और हिरन मंत्र-मुग्ध होने लगते हैं । पतले कागज के टुकड़े से बनी पतंग आकाश को तभी चूमती है जब उसकी डोर का सिरा किसी उड़ाने वाले के हाथ में रहता है । यह संबंध शिथिल पड़ने या टूटने पर सारा खेल खत्म हो जाता है और पतंग जमीन पर आ गिरती है । यह उदाहरण यह बताते हैं कि यदि आत्मा को परमात्मा के साथ सघनतापूर्वक जुड़ जाने का अवसर मिल सका तो उसकी स्थिति सामान्य नहीं

रहती । तब उसे नर पामरों जैसा जीवन व्यतीत नहीं करना होता । वरन् ऐसे मानव देखते-देखते कहीं से कहीं जा पहुँचते हैं । इतिहास-पुराण ऐसे देवमानवों की चर्चा से भरे पड़े हैं जिनने अपने अंतराल को निकृष्टता से विरत करके ईश्वरीय महानता के साथ जोड़ा और देखते-देखते कुछ-से-कुछ बन गए ।

उपासना को आध्यात्मिक प्रगति का आवश्यक एवं अनिवार्य अंग माना गया है । उसके बिना वह संबंध जुड़ता ही नहीं, जिसके कारण छोटे-छोटे उपकरण बिजली घरों के साथ तार जोड़ लेने पर अपनी महत्वपूर्ण हलचलें दिखा सकने में समर्थ होते हैं । घर में हीटर, कूलर, रेफ्रीजरेटर, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन आदि कितने ही सुविधाजनक उपकरण क्यों न लगे हों पर उनका महत्व तभी है जब उनके तार बिजलीघर के साथ जुड़कर शक्ति भंडार से अपने लिए उपयुक्त क्षमता प्राप्त करते रहने का सुयोग बिठा लेते हों । उपासना का तत्व ज्ञान यही है । उसका शब्दार्थ है – उप + आसन, अर्थात अति निकट बैठना । परमात्मा और आत्मा को निकटतम लाने के लिए ही उपासना की जाती है । विशिष्ट शक्ति के आदान-प्रदान का सिलसिला इसी प्रकार चलता है ।

उपासना के दो पक्ष हैं एक कर्मकांड, दूसरा तादात्म्य । दोनों शरीर एवं प्राण की तरह अन्योन्याश्रित एवं परस्पर पूरक हैं । एक के बिना दूसरे को चमत्कार प्रदर्शित करने का अवसर ही नहीं मिलता । बिजली के दोनों तार जब मिलते हैं तभी करेंट चलता है । अलग-अलग रहें तो कुछ बात बनेगी ही नहीं । दोनों पहिए धुरी से जुड़े हों और समान रूप से गतिशील हों तभी गाड़ी आगे लुढ़कती है । लंबी यात्राएँ दोनों पैरों के सहारे ही संभव होती है, भले ही एक के कट जाने पर उसकी पूर्ति लकड़ी के पैर से ही क्यों न की जा रही हो ।



दोनों हाथ से ताली बजाने की उक्ति से सभी परिचित हैं । संतानोत्पादन में नर और नारी दोनों का संयोग चाहिए ।

ठीक इसी प्रकार उपासना का शास्त्र प्रतिपादित और आप्तजनों द्वारा अनुमोदित महात्म्य तभी चरितार्थ होता है जब उसका कर्मकांड वाला प्रत्यक्ष और तादात्म्य वाला परोक्ष पक्ष समान रूप से संयुक्त सक्रिय होते हैं । जप, ध्यान, प्राणायाम के उपासनात्मक कर्मकांडों का स्वरूप सभी को विदित है । जिन्हें उस जानकारी में कुछ कमी हो वे अपनी स्थिति का अनुभवी मार्गदर्शक से परामर्श अथवा प्रामाणिक ग्रंथ का अवलोकन करके उसका समाधान-निर्धारण कर सकते हैं । बड़ी और महत्वपूर्ण बात 'तादात्म्य' है । उसे जीवन सत्ता में प्राण का स्थान मिला है । कर्मकांड तो काय कलेवर की तरह उपकरण ही कहे जाते हैं । प्रहार तो तलवार ही करती है, वस्तुतः युद्ध के मोर्चे पर जिताने में वह लौह खंड उतना चमत्कार नहीं दिखाता जितना कि प्रत्यक्ष न दीख पड़ने वाला पराक्रम, साहस । ठीक इसी प्रकार उपासना के कर्मकांड पक्ष का तलवार जैसा चमत्कारी प्रतिफल देखना हो तो उसके पीछे 'तादात्म्य' का भाव, समर्पण नियोजित किए बिना काम चलेगा ही नहीं ।

उपासनात्मक कर्मकांडों में विधि-विधान का स्वरूप प्रज्ञा परिजनों में से सभी जानते हैं । स्थान, पूजा उपकरण, शरीर-वस्त्र आदि की शुद्धि के अतिरिक्त मन, बुद्धि और अंतःकरण की शुद्धि तथा इंद्रियों-अवयवों को पवित्र रहने की प्रेरणा देने के लिए आचमन-न्यास आदि किए जाते हैं । पवित्रता के प्रतीक जल और प्रखरता के प्रतिनिधि दीपक या किसी अन्य विकल्प का अग्नि स्थापन किया जाता है । समझा जाना चाहिए कि आत्मिक प्रगति के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सज्जनतापरक सद्गुणों की जितनी

आवश्यकता है ठीक उतनी ही संयम, साहस, पराक्रम एवं संघर्ष के रूप में अपनाई जाने वाली तपश्चर्या का भी महत्व है । पवित्रता और प्रखरता का समन्वय ही पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचता है । मात्र संत-सज्जन बने रहने और पौरुष को त्याग कर बैठने पर तो कायरों और दीन-दुर्बलों जैसी दयनीय स्थिति बन जाती है । मध्यकाल की भक्तचर्या ऐसे ही अधूरेपन से ग्रसित रहने के कारण उपहासास्पद बनती चली गई है । कर्मकांडों के विधि-विधान तादात्म्य की चेतना उत्पन्न करने एवं प्रेरणा देने के लिए ही विनिर्मित हुए हैं ।

तादात्म्य अर्थात भक्त और इष्ट की अंत:स्थिति का समन्वय-एकीकरण । दूसरे शब्दों में ईश्वरीय अनुशासन के अनुरूप जीवनचर्या का निर्धारण । परब्रह्म तो अचिंत्य है पर उपासना जिस परमात्मा की जाती है वह आत्मा का ही परिष्कृत रूप है । वेदांत दर्शन में उसे सोऽहम्-शिवोऽहम्-तत्त्वमसि-अयमात्मा ब्रह्म आदि शब्दों में अंत: चेतना के उच्चस्तरीय विशिष्टताओं से भरे-पूरे उत्कृष्टताओं के समुच्चय को ही परमात्मा कहा गया है । उसके साथ मिलन का, तादात्म्य का स्वरूप तभी बनता है जब दोनों के मध्य एकता-एकात्म स्थापित हो । इसके लिए साधक अपने आपको कठपुतली की स्थिति में रखता है और अपने अवयवों में बँधे को बाजीगर के हाथों सौंप देता है । दर्शकों को मंत्र मुग्ध कर देने वाला खेल इस स्थापना के बिना बनता ही नहीं । आत्मा को परमात्मा की उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ अपनाने और तदनुरूप जीवनचर्या बनाने पर ही उपासना का समग्र लाभ मिलता है ।

लकड़ी और अग्नि की समीपता का प्रतिफल प्रत्यक्ष है । गीली लकड़ी आग के समीप पहुँचते-पहुँचते अपनी नमी गँवाती है और उस ऊर्जा से अनुप्राणित होती चली जाती है । जब वह अति निकट पहुँचती है तो फिर आग और लकड़ी एक स्वरूप, एक जैसे हो जाते हैं । साधक को भी ऐसा ही भाव समर्पण करके ईश्वरीय अनुशासन के साथ अपने आपको एक रूप बनाना पड़ता है । चंदन के समीप वाली झाड़ियों का सुगंधित हो जाना, स्वांति बूँद के संयोग से सीप में मोती पैदा होना, पारस छूकर लोहे का स्वर्ण बनना, नाले का गंगा में मिलकर गंगाजल बनना, पानी का दूध में मिलकर उसी भाव बिकना, बूँद का समुद्र में मिलकर सुविस्तृत हो जाना जैसे अगणित उदाहरण हैं जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है कि भक्त और भगवान की एकता-उपासना का स्तर क्या होना चाहिए । सृष्टि के आदि से अद्यावधि सच्चे भक्तों में से प्रत्येक को ईश्वर के शरणागत होना पड़ा है । आत्म समर्पण का साहस जुटाना पड़ा है । इसका व्यावहारिक स्वरूप है ईश्वरीय अनुशासन का उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व को अपनी विचारणा एवं कार्यपद्धति से अनुप्राणित करना । जो इस तत्व दर्शन को जानते-मानते और व्यवहार में उतारते रहे हैं उन सच्चे ईश्वर भक्तों को सुनिश्चित रूप से वे लाभ मिले हैं जिन्हें उपासना की फलश्रुतियों के रूप में कहा जाता रहा है । पत्नी-पति को आत्मसमर्पण करती है, अर्थात उसकी मर्जी पर चलने के लिए अपनी मनोभूमि एवं क्रिया पद्धति को मोड़ती चली जाती है । इस आत्मसमर्पण के बदले ही वह पति के वंश, गोत्र, यश, वैभव की उत्तराधिकारिणी ही नहीं अर्धांगिनी भी बन जाती है । समर्पण विहीन कर्मकांड तो एक प्रकार का वेश्या व्यवसाय या चिह्न पूजा जैसा निर्जीव ढकोसला ही माना जायेगा । भक्त भगवान के अनुरूप चला करता है और अंततः नर-नारायण, पुरुष-पुरुषोत्तम, भक्त-भगवान की एकरूपता का स्वयं प्रमाण बनता है । देवात्माओं में परमात्मा स्तर की ही क्षमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं । इन्हीं को ऋद्धि-सिद्धियाँ कहते हैं ।

प्रज्ञा परिजनों को मूर्धन्य भूमिका निभाने के लिए आत्मशक्ति की प्राण ऊर्जा को बड़ी मात्रा में संचय करना होगा । यह परमात्मा से ही उसे मिलेगी । अस्तु, उसे उपासना के लिए सच्चे मन से साहस जुटाना और प्रयास करना चाहिए । जीवनचर्या में उसे निष्ठापूर्वक सुनिश्चित एवं मूर्धन्य स्थान देना चाहिए । कर्मकांड के लिए जितना भी समय निकाला जाय, उसे नियमित और निश्चित होना चाहिए । व्यायाम, औषधि सेवन, अध्ययन आदि के लिए समय भी निर्धारित किए जाते हैं और उसकी मात्रा का सीमा बंधन भी रखा जाता है । यदि इन प्रसंगों में मन की मौज बरती जाय, समय और मात्रा की उपेक्षा करके जैसा मन वैसा करने की स्वेच्छाचारिता अपनाई जाय तो पहलवान-विद्वान बनने और निरोग होने की इच्छा पूरी हो ही नहीं सकेगी । हर महत्वपूर्ण कार्य में नियमितता को प्रमुखता दी जाती है । जो किया जाता है उसमें समूचे मनोयोग का नियोजन किया जाता है । उपासना के संदर्भ में भी वही किया जाना चाहिए । अस्त-व्यस्तता, अनिश्चितता बनी रहेगी तो अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति अति कठिन हो जायेगी ।

युग संधि की अवधि में सभी प्रज्ञा परिजनों को न्यूनतम तीन माला गायत्री जप प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त होकर करने के लिए कहा गया है । जप के साथ प्रभातकालीन सूर्य का दर्शन और उस सविता देवता की स्वर्णिम किरणों का स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में प्रवेश कराने का ध्यान भी करते चलना चाहिए । शरीर, स्थान और उपकरणों की स्वच्छता के अतिरिक्त, मन, बुद्धि, चित्त की स्वच्छता के लिए आचमन, प्राणायाम और न्यास कृत्य करने का विधान है । सामान्य प्राणायाम तो रेचक, कुंभक, पूरक द्वारा ही संपन्न हो जाता है, पर उसमें विशेषता लानी हो तो उसे प्राणाकर्षण स्तर का



विकसित कर लेना चाहिए । इन पंक्तियों में उसे संक्षिप्त ही लिखा जा रहा है क्योंकि अधिकांश परिजन उसे पहले से ही जानते हैं । जो नहीं जानते उनके लिए थोड़ी सी पंक्तियों के निर्देशन से काम नहीं चलेगा । उन्हें इस समीपवर्ती किसी निष्णात से या 'गायत्री महाविज्ञान' से जानना होगा अथवा शांतिकुंज पत्र व्यवहार करके अपनी वर्तमान मनःस्थिति के अनुरूप साधनाक्रम का निर्धारण करना होगा । स्पष्ट है कि साधक के स्तर और प्रवाह को ध्यान में रखते हुए साधनाक्रम भी चिकित्सा उपचार की तरह आवश्यकतानुसार समय-समय पर बदलने होते हैं । शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ के रूप में इन्हीं दिनों इसी प्रयोजन के लिए परिणत किया गया है, ताकि हर साधक की स्थिति एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसके लिए विशेष निर्धारण किए जा सकें और जो बताया गया है उसका प्रारंभिक अभ्यास प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में ही सही कर लेना संभव हो सके ।

समान्यतया हर प्रज्ञा परिजन को युग संधि की बेला में अपनी उपासना को नैष्ठिक, नियमित एवं समग्र बना लेना चाहिए । तीन माला का गायत्री जप, गुरुवार को जिस स्तर का बन पड़े उपवास, ब्रह्मचर्य, महीने में एक बार अग्निहोत्र का न्यूनतम साधना क्रम तो चलाना ही चाहिए । इसके अतिरिक्त अपने भावना क्षेत्र को उत्कृष्टताओं के समुच्चय-परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का निरंतर प्रयत्न करना चाहिए । भावना, विचारणा और क्रिया-प्रक्रिया में जितनी अधिक उत्कृष्टता-आदर्शवादिता का समावेश संभव हो सके, उसके लिए उपाय खोजने और प्रयत्न करने में सतत संलग्न रहना चाहिए । भजन कृत्य और तादात्म्य की उभयपक्षीय प्रक्रिया उपासना को समग्र बनाती है और अपना प्रत्यक्ष प्रतिफल हाथों हाथ प्रस्तुत करती है ।

# अध्यात्म क्षेत्र की वरिष्ठता–विनम्रता पर निर्भर

युग शिल्पियों की सार्थकता, वरिष्ठता, उनकी विद्या, बुद्धि, आयु, वंश आदि के आधार पर नहीं वरन् व्यक्तित्व की विशिष्टता के साथ अविच्छिन्न रूप से संबद्ध है । यह किस नियम अनुशासन पर निर्धारित है, इसके लिए एक आचार संहिता 'युग शिल्पियों के सत्त मूहाव्रत' नाम से प्रस्तुत की गई है । जो उसे जितनी गंभीरता से समझने का, जितनी तत्परता से अपनाने का प्रयत्न करेंगे, वे उसी अनुपात में युग पुरुष बनने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे, मूर्धन्य महामानव कहलायेंगे और अपनी आत्मिक विभूतियों से असंख्यों को अनुप्राणित करेंगे, अपने ढाँचे में ढालेंगे ।

बड़ा, उससे बड़ा, सबसे बड़ा बनने की ललक इतनी मदांध कर देती है कि न न्याय सूझता है, न औचित्य और न परिणाम । न मर्यादाओं का ध्यान रहता है और न नम्रता सधती है । बैल बनने की प्रतिस्पर्धा में एक मेढ़क अपने पेट में हवा भरता चला गया और अंत में उदर कलेवर फट जाने पर बेमौत मरा । वह कहानी मनुष्यों पर लागू होती है । जितनी जल्दी बन पड़े, जितना अधिक बटोरना संभव हो उतना बिना प्रतीक्षा किए, बिना मूल्य चुकाए, किसी भी छल, छद्म से अपने लिए उपलब्ध कर लिया गया । यही है सेवा मार्ग पर चलने वालों की दुर्गति बनाने वाली ललक, भावनात्मक अवगति । आश्चर्य होता है कि जब ख्याति की, पदवी की इतनी अधिक लिप्सा थी तो उसके लिए दूसरे सस्ते उपाय-हथकंडे हो सकते थे । सेवा का जटिल मार्ग क्यों चुना जाय ? यदि चुन ही लिया गया तो सेवा की अभिन्न सहचरी नम्रता को भी साथ लेकर चलना था । सेवा धर्म के साथ शालीनता का समन्वय रहना चाहिए । लोक सेवी को निस्पृह एवं विनम्र होना चाहिए । इसी में उसकी गरिमा और उज्ज्वल



भविष्य की संभावना है । जो बड़प्पन लूटने, साथियों की तुलना में अधिक चमकने, उछलने का प्रयत्न करेंगे, वे औंधे मुँह गिरेंगे और अपने दांत तोड़ लेंगे । साथी क्यों किसी का दर्प सहें, किसी के बड़े बनने पर अपनी हेठी क्यों स्वीकार करें ?

सुंद, उपसुंद की कथा प्रसिद्ध है । एक सुंदरी पर आसक्त होकर दोनों आपस में लड़ पड़े और मरकर समाप्त हो गए । मुगलों ने कई पीढ़ियों तक बाप की, भाइयों की छाती पर चढ़कर गद्दी हथियाई । मध्यकालीन सामंतों ने ऐसे कितने ही कुकृत्य किए जिनमें उत्तराधिकारी बालकों की हत्या करके स्वयं मात्र दरबारी होते हुए भी सिंहासनारूढ़ हो बैठे । संस्थाओं के विघटन में यह पद लोलुपता ही प्रधान कारण रही है । कल परसों ही जनता पार्टी का विघटन होकर चुका है । उसमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का, पदलिप्सा का नग्ननृत्य, साथ ही दुष्परिणाम हर किसी ने देखा है । कौरव-पांडव चक्रवर्ती युधिष्ठिर के अनुशासन में न रहकर अपना स्वतंत्र वर्चस्व चमकाने के लिए व्याकुल कौरवों ने वह राजनीति अपनाई जो अंततः महाभारत के रूप में महाविनाश का कारण बनी । कृष्ण का यादव वंश भूखा, नंगा नहीं था, लेकिन उसका हर सदस्य अपनी विशिष्टता सिद्ध करने और अन्यों को गिराने के लिए सामूहिक आत्मघात की स्थिति तक जा पहुँचा । यही सब देखकर व्यासजी ने अकाट्य सिद्धांत के रूप में लिखा था –

**बहवः यत्र नेतारः बहवः मानकांक्षिणः ।**
**सर्वे महत्वमिच्छन्ति, स दल अवसीदति ॥**

जहाँ बहुत लोग नेता बनें, जहाँ बहुतों की महत्वाकांक्षा, यश, लिप्सा हो वह दल अंततः नष्ट होकर रहेगा ।

युग शिल्पियों को समय रहते इस खतरे से बचना चाहिए । हममें से एक भी लोकेषणाग्रस्त, बड़प्पन का महत्वाकांक्षी बनने न

पाए । जो युगशिल्पी विश्व विनाश को रोकने चले हैं, यदि वे महत्वाकांक्षा अपनाकर साथियों को पीछे धकेलेंगे, अपना चेहरा चमकाने के लिए प्रतिद्वंद्विता खड़ी करेंगे तो अपने पैरों कुल्हाड़ी मारेंगे और इस मिशन को बदनाम, नष्ट-भ्रष्ट करके रहेंगे, जिसकी नाव पर वे स्वयं चढ़े हैं ।

भगवान कृष्ण ने महाभारत के उपरांत हुए राजसूय यज्ञ में आग्रह पूर्वक आगंतुकों के पैर धोने का काम अपने जिम्मे लिया था और सज्जनोचित विनम्रता का परिचय दिया था । गांधी जी कांग्रेस के पदाधिकारी नहीं रहे किन्तु फिर भी सबसे अधिक सेवा करने और मान पाने में समर्थ हुए । राम, भरत में से दोनों ने राजतिलक की गेंद दूसरे की ओर लुढ़काने में कोर कसर न रहने दी । चाणक्य झोपड़ी में रहते थे ताकि राजमद उनके ऊपर न चढ़े और किसी साथी के मन में प्रधान मंत्री का ठाट-बाट देखकर वैसी ही ललक न उठे । राजा जनक हल जोतते थे । बादशाह नासिरुद्दीन टोपी सीकर गुजारा करते थे । यह वे उदाहरण हैं जिनसे साथियों को अधिक विनम्र और संयमी बनने की प्रेरणा मिलती है । नहुष ने ऋषियों को पालकी में जोता और सर्प बनने का शाप ओढ़ने को विवश हुए । पेशवाओं के प्रधान न्यायाधीश राम शास्त्री की पत्नी जब राजमहल से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण के उपहार लेकर वापस लौटीं तो उनने दरवाजा बंद कर लिया और कहा कि ब्राह्मणों की पत्नी को अपरिग्रही आदर्श का पालन करना होगा अन्यथा विनम्रता की संपदा हाथ से चली जाएगी और हम लोग द्रौणाचार्य की तरह नौकर बनेंगे और कुछ भी करने के लिए तैयार होते रहेंगे ।

युग शिल्पियों को राजकाजी लोगों की तरह बड़प्पन, ठाट-बाट, वैभव की न तो चाह करनी चाहिए और न उसके लिए अपने पुनीत



क्षेत्र में हाथ-पैर पीटकर ईर्ष्या, द्वेष का विष बोना चाहिए । जो जितना बड़ा हो वह उतना ही नम्र होकर रहे । अनुशासन पाले और योग्यता के अनुरूप वर्चस्व पाने का प्रयास न करे । मिशन में योग्यता का नहीं उस सज्जनता का महत्व है जिसके साथ नम्रता, निरहंकारिता अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है । हममें से कोई अहंकार प्रदर्शित न करे । छोटा बनकर रहे और अनुशासन पालने में अपना गौरव समझे । इस रीति-नीति का परित्याग करने वाले मान के भूखे व्यक्ति सृजन शिल्पी न बनें ।

सिख धर्म के छठवें गुरु अर्जुनदेव पंगत में जूठे बर्तन मांजने का काम करते थे । गुरु गद्दी के इच्छुकों में से सभी को अयोग्य ठहरा कर गुरु रामदास ने अपना उत्तराधिकारी अर्जुनदेव को इस आधार पर घोषित किया कि वे नम्रता, निस्पृहता और अनुशासन पालन में अग्रणी पाए गए । अध्यात्म क्षेत्र में वरिष्ठता, योग्यता के आधार पर नहीं, आत्मिक सद्गुणों की अग्नि परीक्षा में जाँची जाती है । इस गुण शृंखला में निरहंकारिता को, विनय शीलता को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । सरकारी क्षेत्रों में योग्यता के आधार पर पदोन्नति होती और नौकरी बढ़ती है । वह मापदंड यदि अध्यात्म क्षेत्र में भी अपनाया गया तो फिर भावनाओं का कहीं भी कोई महत्व न रहेगा । महात्वाकांक्षी लोग ही इस क्षेत्र पर भी अपना आधिपत्य जमाने के लिए योग्यता की दुहाई देने लगेंगे तब सदाशयता की कोई पूछ ही नहीं रहेगी । संन्यास लेते समय अपने अब तक के वंश, यश, पद, गौरव, इतिहास का विस्मरण करना होता है । गुरु आश्रम एवं संप्रदाय का एक विनम्र सदस्य बनकर रहना पड़ता है । सेवा धर्म भी एक प्रकार से हल्की संन्यास परंपरा है । उसमें भूतकाल में अर्जित योग्यताओं, वरिष्ठताओं को प्रायः पूरी तरह भुलाकर मिशन की

गरिमा के साथ जुड़े हुए एक स्वयं सेवी के हाथों में जितनी प्रतिष्ठा लगती है उसी में संतोष करना होता है । स्मरण रहे अधिक वरिष्ठ व्यक्ति अधिक विनम्र होते हैं । फलों से डालियाँ लद जाने पर आम का वृक्ष धरती की ओर झुकने लगता है । अकड़ते तो पतझड़ के डंठल ही हैं ।

गांधी जी को साबरमती आश्रम में टट्टी साफ करने से लेकर छोटे-मोटे ऐसे सभी काम अपने हाथों करने पड़ते थे, जिन्हें करने में आमतौर से बड़े आदमी अपनी हेठी मानकर नौकरों से कराते हैं । विनोबा के पवनार आश्रम में सभी आश्रमवासी कुएँ से पानी खींचते और पहरेदारी करते थे । शांतिकुंज के हर कार्यकर्त्ता को सफाई और पहरेदारी का काम अपने हाथों करना पड़ता है । यहाँ कोई मेहतर नहीं । शौचालय, स्नानघर, नालियाँ सभी मिल-जुलकर साफ करते हैं । नेतागीरी के लिए विग्रह खड़े करने वाले क्षेत्र दूसरे हो सकते हैं पर सेवा धर्म में इस प्रकार की लिप्सा का भोंड़ा प्रदर्शन सहन नहीं है । स्काउटिंग की जिन्होंने शिक्षा पाई है वे जानते हैं कि वहाँ अनुशासन का पालन ही वरिष्ठता का चिह्न माना जाता है । पदवी पाने के लिए विग्रह करने वालों के लिए स्वयंसेवी संगठनों में कोई स्थान नहीं होता ।

गुरुद्वारों में श्रद्धालु सेवी हर आगंतुकों के जूते पोंछते और यथा स्थान रखते देखे जाते हैं । महिलायें अपनी चुनरी से सीढ़ियाँ साफ करती हैं । इजराइल की पूर्व प्रधानमंत्री गोल्डामेयर सरकारी कर्मचारियों के दफ्तर में स्वयं पहुँचतीं और समाधान तथा मार्गदर्शन खड़े-खड़े चलते-फिरते ही करती चलती थीं । केरल में जब श्री नम्बुदरी पाद मुख्यमंत्री थे तब वे घर से दफ्तर तक साइकिल पर आते-जाते थे । यह नम्रता ही है जिसे सज्जनता का दूसरा नाम कहा



जा सकता है । युगशिल्पियों की सेवा साधना में इसी आचार संहिता का परिपालन किया जाता है । नेतागीरी गाँठने वाले यहाँ पाते कुछ नहीं अपनी प्रतिष्ठा का श्राद्ध-तर्पण अपने हाथों ही करते चलते हैं ।

साधु-ब्राह्मण परंपरा में अपरिग्रही, सादगी, मितव्ययिता, नम्रता को वरिष्ठता का प्रतीक चिह्न माना गया है । विलासी, अहंकारी, उद्धत, कटु भाषी इस क्षेत्र में हेय माने जाते हैं । भिक्षाटन के लिए जाने, घर-घर से रोटी माँगकर खाने के पीछे अहंकार गलाने की वह साधना करनी पड़ती है जिसके बिना आध्यात्मिक उत्कृष्टता पनपती ही नहीं । जोंक जहाँ अपने पंजे गड़ा लेती है वहाँ से भरपेट रक्त पीकर छूटती है । छुड़ाने का एक ही उपाय है कि उस पर पिसा नमक छिड़क दिया जाय तो देखते-देखते गलने लगती है और छूटकर तत्क्षण एक कोने पर जा पड़ती है । अहम्मन्यता एक प्रकार की जोंक है उससे पीछा छुड़ाने के लिए ऐसे छोटे काम अपने हाथों करने होते हैं जिन्हें आमतौर से छोटे लोगों द्वारा किए जाने योग्य समझा जाता है ।

युगशिल्पी एक महान मिशन के अंग अवयव होने के कारण ही सम्मान पाते और उच्चस्तरीय व्यक्तित्व का श्रेय पाते हैं । उन्हें सार्वजनिक प्रयोजनों में 'मैं' 'मैं' शब्द का उपयोग न करके 'हम' 'हम लोग' कहना चाहिए । दोष-दुर्गुणों की, मूल अपराधों की स्वीकृति में तो 'मैं' शब्द का उपयोग हो सकता है किन्तु श्रेय तो सभी के सम्मिलित प्रयत्नों से बन पड़ा है, इसलिए उसके किए जाने में सभी के मिले-जुले प्रयत्न का संकेत रहना चाहिए । साथियों को स्नेह, दुलार, सहयोग देने में हम अग्रणी रहें । सफलता की चर्चा में उनके श्रम-सहयोग का उल्लेख करें । कर्तव्यपालन को सर्वोपरि मानें और अंधकार के दावेदार न बनें । ऐसी निरहंकारिता का खाद-पानी

पाकर ही वे सप्त महाव्रत कल्पवृक्ष की तरह फलते-फूलते और सिद्ध सफलताओं से लदते हैं जिन्हें सेवा क्षेत्र में काम करने वालों को उपलब्ध होने वाला दिव्य वरदान कहा गया है ।

## वरिष्ठता की दो कसौटियाँ – प्रमाणिकता एवं उदारता

विशेषज्ञों की हर जगह माँग रहती है । विशिष्ट क्षमता संपन्नों की ही हर कोई खोज करता है । बेकार, बेरोजगार, उपेक्षित फिरने वालों में से अधिकांश अयोग्य ही होते हैं । महत्वपूर्ण प्रयोजन पूरे कर सकने में दक्ष और विशिष्ट लोग ही सफल होते हैं । अयोग्यों से तो जीवन-निर्वाह करते भी सही रीति से बन नहीं पड़ता । इसलिए प्रत्यक्ष महत्वाकांक्षी को सर्वप्रथम अपनी योग्यताओं, विशेषताओं का अभिवर्द्धन करने में प्रवृत्त होना पड़ता है, अन्यथा न कोई बड़ा स्वार्थ साधन करते बन पड़ेगा और न कहने योग्य परमार्थ में सफलता प्राप्त कर सकना संभव होगा ।

परमसत्ता ने इन दिनों युग निर्माण योजना सरंजाम जुटाने के साथ-साथ प्रतिभाशालियों को एकत्रित और प्रशिक्षित करने के कार्य को प्राथमिकता देते हुए हाथ में लिया है । इसके लिए विश्वसनीयता, वफादारी से भरे-पूरे व्यक्तियों के सहारे ही काम चलेगा । समुद्र पर सेतु बनाने के लिए नल-नील जैसे कुशल इंजीनियरों को बुलाया और जुटाया गया था । स्वेज और पनामा नहरें बनाने का नियोजन उच्चकोटि के प्रतिभावानों के हाथ में सौंपा गया था ।

निर्देशक अयोग्य हो, तो अच्छी कहानियों वाली फिल्में भी हूट हो जाती हैं । अयोग्यों को सौंपे गए अन्य कार्य भी घाटा देते और



असफल सिद्ध होते हैं । संसार के हर क्षेत्र में विशिष्टता और योग्यता की ही भारी माँग रहती है । महान परिवर्तनों के लिए नियोजित हुई महाक्रांतियाँ भी उच्चस्तरीय नेतृत्व में ही संपन्न हुई हैं । महापरिवर्तन की इस विषम वेला में विश्व का अभिनव निर्माण करने के लिए श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा के धनी लोगों को आमंत्रित करने की गुहार लग रही हो, तो आश्चर्य ही क्या ? महाकाल ने प्राणवानों को युग धर्म को पहचानने और आड़े समय में काम आने के लिए इसी प्रकार के आमंत्रण-आह्वान दसों दिशाओं से उठाने आरंभ कर दिए हैं । जिनकी भाव-संवेदना और आदर्शवादी साहसिकता जीवंत है, वे कुछ कर गुजरने के लिए अग्रिम पंक्ति में खड़े होने की तैयारी भी कर रहे हैं ।

जहाँ अध्यात्म 'वर्चस्' उभरता है, वहाँ बौद्धिक 'तेजस्' और पुरुषार्थ के प्राण 'ओजस्' की भी कमी नहीं रहती । पहलवान कसरत करते और पौष्टिक खुराक का सरंजाम जुटाते हैं । विद्वान बनने वाले को उपयुक्त साहित्य और निष्णात् अध्यापकों का आश्रय लेना पड़ता है । रोगियों को पथ्य-पालन और औषधि सेवन को शिरोधार्य करना पड़ता है । आना-कानी करने पर वे असमर्थ रहने की स्थिति से उबर नहीं पाते ।

जिन्हें अपने समय का हनुमान, अर्जुन बनना है, उन्हें अपने को दो कसौटियों पर कसे जाने और खरे उतरने की तैयारी में बिना इधर-उधर झाँके इन्हीं दिनों जुट जाना चाहिए । इनमें से एक है-प्रामाणिकता, दूसरी है-उदारता । इन दोनों विभूतियों से सुसज्जित होने पर उच्चस्तरीय व्यक्तित्व विनिर्मित करने का सुयोग सहज ही बन जाता है । प्रामाणिकता का पर्यायवाची है-आत्म परिष्कार । इसके लिए दुश्चिंतन और अनाचरण से मुक्ति पाना । इसी को तत्वदर्शियों ने लोभ और मोह की हथकड़ी, बेड़ियों से छुटकारा पाना कहा है ।

उनने बड़प्पन प्रदर्शन की अहंता को भी तीसरी बाधा बताया है । इन तीन से निपट लेने पर, उन भव बंधनों से, कषाय-कल्मषों से छुटकारा मिल जाता है, जो पतन, पराभव के लिए पूरी तरह जिम्मेदार हैं ।

प्रतिभा परिष्कार का दूसरा चरण है - उदारता । इसे भी तपश्चर्या एवं पुण्य-पुरुषार्थ संचित करने की सुनिश्चित क्रिया-प्रतिक्रिया समझा जा सकता है । उसी दृष्टिकोण को अपनाने पर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुंबकम्' के दोनों महामंत्रों की क्षमता व्यावहारिक जीवन में प्रवेश पाती और सामान्य को असामान्य बना देने में पूरी तरह सफल होती है । जिनने अपनी विचारणा को कषाय-कल्मषों से, लिप्सा-लालसा से ऊपर उठा लिया है, उनके लिए फिर कोई ऐसा बंधन शेष नहीं रह जाता, जिसके आधार पर युगधर्म अपनाने से आनाकानी करने के लिए बहाना ढूँढ़ा जाय ।

प्रामाणिकता का एक ही आधार है - पवित्रतायुक्त निर्दोष जीवन । मानवी गरिमा को महत्व देने वाले व्यक्ति सहज ही अपने दृष्टिकोण को, क्रिया-कलाप को औचित्य के राजमार्ग पर गतिशील रखे रह सकते हैं और हर किसी की दृष्टि में विश्वस्त ही नहीं, श्रद्धा, सम्मान और सहयोग का भाजन भी बने रह सकते हैं । ऐसे ही व्यक्ति अपने परामर्श को, कथनी और करनी की एकरूपता के आधार पर इतना सशक्त बना सकते हैं कि उन्हें मानने-अपनाने के लिए अनेक को तत्पर पाया जा सके ।

उदारता का प्रतीक परमार्थ है । इसी को दूसरे शब्दों में भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाला पुण्य भी कहते हैं । सत्प्रयोजनों के खेत में अपने समय, श्रम और साधनों को बोने वाले साधारण किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक नफे में रहता है । किसान के बोए बीज का



वांछित मात्रा में फलित होना कई बार प्रतिकूलताएँ उपस्थित हो जाने पर संदिग्ध भी रहता है, पर उत्कृष्टता के क्षेत्र में बोए गए अपने अनुदानों के फलित होने में किसी को भी घाटा सहन करने की कुंठा नहीं भुगतनी पड़ी । इस अध्यात्मवादी कृषि प्रयास में एक दाना बोकर हजार दाने पाने की सुनिश्चितता को कोई भी अनुभव कर सकता है । उदारचेता, आत्मसंयमी महामानवों के इतिहास का हर पृष्ठ यह साक्षी देने के लिए विद्यमान है कि प्रामाणिकता और उदारता की विभूतियाँ संपादित करने वाले सदा ऊँचाई की ओर तेजी से बढ़ते रहे हैं और ऐसा वातावरण बनाते रहे हैं, जिसको अनंत काल तक सराहा और स्मरण किया जाता रहे ।

नव सृजन की भवितव्यता सुनिश्चित है । उस संभावना में भागीदार होकर गोवर्धन उठाने में लाठी का सहारा देने वाले ग्वाल-बालों जैसा अवसर हम सबके सामने भी है । इस अवसर से चूका क्यों जाय ? श्रेय के भागीदारों में सम्मिलित होने में झिझकने और संकोच करने की आवश्यकता ही किसी बुद्धिमान को क्यों पड़नी चाहिए ।

तैयारी के लिए इतना भर करना पर्याप्त होगा कि प्रामाणिकता, प्रतिभा और उदारता का इतना संचय किया जाय, जिसका अनुभव अपने को हो सके और परिचय सर्वसाधारण को मिल सके । भावनाएँ, मान्यताएँ और आकांक्षाएँ अंतराल की गहराई में उठती हैं, पर वे प्रत्यक्ष जीवन में गुण, कर्म, स्वभाव में अपना परिचय देने लगती हैं । इन प्रवृत्तियों का समुच्चय ही व्यक्तित्व रूप में विकसित होता है । सामर्थ्यवान जिस भी मार्ग पर चल पड़ता है, उसी में असाधारण स्तर की सफलताएं अर्जित करता चला जाता है ।

परिवर्तन की इस महान वेला में उच्चस्तरीय दायित्व जिन्हें सौंपे

जाने हैं, जो उत्साहपूर्वक उन्हें अंगीकार और वहन करने वाले हैं, उनमें असामान्यता के कुछ लक्षण तो जाँचे-परखे ही जाएँगे । सोने की जाँच-पड़ताल कसौटी पर कसने और आग में तपाने से होती है । व्यक्ति की गरिमा भी ऐसे ही दो माध्यमों से जानी जाती है, जिनमें से एक है चिंतन, चरित्र और व्यवहार में समाविष्ट उत्कृष्टता । यही वह है, जिसे पवित्रता, प्रामाणिकता और वरिष्ठता कहा जाता है और उन्हें कुछ भी दायित्व सौंपने पर ठीक तरह संपन्न किया जाने का विश्वास किया जाता है । यही है प्रामाणिकता जिसके आधार पर किसी को भी जनसाधारण की आँखों में श्रद्धास्पद बनने का अवसर मिलता है । ईश्वर तक उन्हें अपने प्रतिनिधि-पार्षद का गौरव प्रदान करता है ।

प्रामाणिकता के अतिरिक्त उदारता दूसरा माध्यम है, जिसके आधार पर आदर्शों के प्रति भावभरी निष्ठा को जाँचा-परखा जाता है । प्रामाणिकता शरीर की स्वच्छता, सुंदरता के समतुल्य है और उदारता उसकी शोभा-सज्जा । शरीर भले ही कितना ही सुडौल हो, पर वह नग्न स्थिति में होगा, तो उसे अश्लील कहा जाएगा । हीरे का असली होना आवश्यक है, पर उसे चमकाने के लिए खराद पर भी तो चढ़ाया जाता है । वर-वधू विवाह के अवसर पर सुसज्जित परिधान धारण करते हैं । शालीनता, सद्भावना, सदाचरण का होना प्राथमिक आवश्यकता है, पर साथ ही यह भी आवश्यक है कि समर्थता का उपयोग सत्प्रयोजनों में करने की उदारता में भी कोई कृपणता न की जाय । नवयुग के लिए जिन्हें सृजेताओं की भूमिका निभानी है, उनका चयन, प्रामाणिकता और उदारता की प्रवृत्ति अभ्यास में उतरी या नहीं, इसी जाँच-पड़ताल के आधार पर उपयुक्त पाये जाने पर चयनित किया जायगा । श्रेय लाभ भी उन्हीं के हिस्से में आएगा ।



# सेवा-धर्म हमारे जीवन का अंग बने

सेवा धर्म ही अध्यात्म का प्रतिफल है । परमार्थ पथ पर अग्रसर होने वाले को सेवा धर्म अपनाना ही होता है । जिसके हृदय में दया, करुणा, प्रेम और उदारता है वही सच्चा अध्यात्मवादी है । इन सद्गुणों को, दिव्य विभूतियों को जीवन क्रम में समाविष्ट करने के लिए सेवा धर्म अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । भारतीय धर्म में दान का अत्यधिक महत्त्व है । छोटे से लेकर बड़े तक संकल्प छोड़ने से लेकर देव दर्शन तक कोई काम दान के बिना आरंभ नहीं होता । दान-पुण्य यह दोनों शब्द एक तरह से पर्यायवाची बन गए हैं । दान में ही पुण्य है, पुण्य तभी होगा जब दान किया जाय । यह मान्यता सिद्धांततः ठीक है । भगवान किसी की आंतरिक उदारता देखकर ही प्रसन्न होते हैं । आत्मा का साक्षात्कार सद्गुणों के बिना संभव नहीं । उत्कृष्टता और उदारता का समन्वय सेवा धर्म में है । दान सेवा का ही एक छोटा रूप है ।

मोटी परिभाषा में किसी को धन देने का नाम दान माना जाता है, पर यह दान का बहुत ही भोंड़ा अर्थ है । अविवेकपूर्वक प्रयोग से तो यह अर्थ एक प्रकार से अनर्थ ही उत्पन्न कर देता है । दान के नाम पर आजकल तथाकथित धर्मजीवी लोगों का व्यवसाय चलता है, मुफ्त के माल पर गुलछर्रे उड़ा कर यह निकम्मे लोग जनता को अंधविश्वास एवं भ्रम जंजाल में फँसाते हैं । यह दान नहीं, दान के अर्थ का अनर्थ है । आपत्तिग्रस्त लोगों की उतनी सहायता करनी चाहिए जिससे वे अपने पैरों पर खड़े होने लायक हो जाएँ, जो लोक मंगल में अपना सारा जीवन निछावर किए हुए हैं ऐसे 'ब्राह्मणों' की निर्वाह व्यवस्था करना भी दान है । व्यक्तिगत रूप से इन दो ही प्रयोजनों के लिए खर्च किया धन दान है । असली दान तो जनमानस

में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन के लिए होने वाले प्रयासों में है । दान केवल धन का ही नहीं होता, धन दे सकने की स्थिति तो इस घोर आर्थिक तेजी के जमाने में किन्हीं बिरलों में ही होती है । फिर ऐसे अधिकारी पात्र भी ढूँढ़े नहीं मिलते जिन्हें देने पर धन की सार्थकता मानी जाय । सर्वसाधारण के लिए उपयुक्त दान-पुण्य श्रम, समय, बुद्धि देकर किए जाने वाले पारमार्थिक कार्यों से ही हो सकता है । अपनी आजीविका का एक अंश भी इस प्रकार के सत्कार्यों में लगाया जा सकता है । सेवा धर्म का यही स्वरूप है । जिन प्रयत्नों से यह संसार अधिक सुंदर, अधिक समुन्नत, अधिक उत्कृष्ट, अधिक सद्भावना युक्त, अधिक समर्थ बने वे ही सेवा धर्म की सच्ची भूमिका प्रस्तुत करते हैं । मुफ्त में अनाधिकारियों को लाभ देने के प्रयास सस्ती वाहवाही दे सकते हैं पर उससे मुफ्तखोरी की दुष्प्रवृत्ति ही बढ़ती है । अन्न-क्षेत्र, प्याऊ, धर्मशालाएँ चलाने और ब्रह्मभोज करने में लोग दान-पुण्य का आभास मान लेते हैं । वस्तुतः होना यह चाहिए कि श्रम करके भोजन पाने की, रस्सी बाल्टी से पानी खींच कर पानी पीने की, उचित किराया देकर ठहरने की और जो लोक मंगल में लगे हैं उन्हीं 'ब्राह्मणों' के निर्वाह की व्यवस्था की जाय । जो आसानी से अपना काम चला सकते हैं, आर्थिक तंगी में नहीं हैं, उन्हें मुफ्त में लाभ देना एक निरर्थक ही नहीं, हानिकारक प्रयोग है । इसलिए लोग दूसरों का दान निर्लज्ज होकर स्वीकार करते हैं जबकि उसे स्वीकार करना केवल अपंग, असमर्थों अथवा लोकसेवियों को ही चाहिए ।

सेवा धर्म अपनाए बिना किसी श्रेयार्थी का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता । इसलिए उसका समावेश जीवन क्रम में निश्चित रूप से करना चाहिए पर साथ ही यह भी परख लेना चाहिए कि अपना



प्रयत्न संसार में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन के लिए, विश्व-मानव की भावनात्मक सेवा की कसौटी पर खरा उतर रहा है या नहीं ? युग निर्माण योजना एक प्रकार की सार्वभौम आध्यात्मिक उपासना है । शतसूत्री कार्यक्रम इसी दृष्टि से हैं कि मनुष्य उन्हें अपनाकर सेवा धर्म की सार्थक साधना कर सके और अपना तथा समस्त संसार का सच्चा हित साधन कर सके । परिस्थिति के अनुरूप कौन क्या सेवा कर सकता है ? इस बात को ध्यान में रखकर अनेक प्रकार के सेवा कार्यों की एक सूची बनाई गई है, जिसमें सौ तरह के सेवा कार्य हैं । उनका विस्तृत उल्लेख 'हमारी युग निर्माण योजना' पुस्तक में है । उनमें से कुछ चुने हुए सूत्र इस लेख में प्रस्तुत किए जा रहे हैं ताकि सामूहिक सत्प्रयत्नों के अंतर्गत उनका समावेश करके सेवा धर्म की सार्थक साधना कर सकें ।

(१) सबसे पहली और सबसे आवश्यक सेवा अपनी है । अपने भीतर उत्कृष्टता का अभिवर्द्धन करना संसार की तथा ईश्वर की सबसे बड़ी सेवा है । हम उत्तम बनें तो ही समाज, संसार तथा वातावरण उत्तम बनेगा । इसके लिए पाँच वैयक्तिक साधना कार्यक्रमों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । स्थूल, शूक्ष्म और कारण शरीरों के परिष्कार के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग की साधना सर्वोपयोगी और सर्वसुलभ है । इस प्रक्रिया को हम सभी अपनावें । निष्ठापूर्वक इसे नित्य कार्यान्वित करें । इस माध्यम से हमारी अंतःभूमिका दिन-दिन उत्कृष्ट, पवित्र और समर्थ बनती चली जायगी । इस उपलब्धि द्वारा हम आत्मा और परमात्मा की सच्ची सेवा कर सकेंगे । पाँच वैयक्तिक कार्यक्रम ये हैं-[१] हर दिन नया जन्मदिन हर रात नई मृत्यु, [२] जन्म दिवस की प्रेरणा, [३] ज्ञानयज्ञ के लिए एक घंटा समय, पचास पैसा नित्य खर्च,

[४] अविवेक के विरुद्ध सत्याग्रह संघर्ष, [५] उपासना में भावना का समावेश ।

(२) दूसरा सेवा कार्य सामूहिक स्तर पर नवनिर्माण की आधारशिला रखने वाले कार्यक्रमों को हर जगह उत्पन्न एवं गतिवान बनाने का है । ये आयोजन इस प्रकार हैं - [१] सज्जनों को संगठन सूत्र में संबद्ध करना, [२] ज्ञानयज्ञ का व्यापक विस्तार, [३] गायत्री जप और यज्ञ आयोजनों का विस्तार, [४] किशोरों के लिए एक वर्षीय, वयस्क लोगों के लिए ९ दिवसीय, कार्यनिवृत्तों के लिए चातुर्मासीय प्रशिक्षण, [५] रचनात्मक सेवा कार्यों में योगदान । यह प्रवृत्तियाँ हर जगह चल पड़ें ऐसा प्रयत्न किया जाय तो युग निर्माण योजना की नींव सुदृढ़ आधार पर रखी जा सकती है और यह प्रक्रिया वह प्रवाह उत्पन्न कर सकती है जिससे सर्वत्र असंख्य रचनात्मक कार्य आगे बढ़ते और सफल होते दृष्टिगोचर होने लगें ।

(३) सच्चे देवमंदिर-ज्ञान मंदिर-पुस्तकालयों की स्थापना । प्रचलित ढंग के सड़े-गले कूड़ा-करकट से भरे पुस्तकालय व्यर्थ हैं जिनमें दूध थोड़ा और विष अधिक रहता है । श्रेयस्कर पुस्तकें, पत्रिकाएँ थोड़ी और विकारोत्तेजक साहित्य भरपूर । ऐसे पुस्तकालय ज्ञानवर्द्धन नहीं करते वरन् दुष्प्रवृत्तियाँ फैलाते हैं । हमें हर जगह ऐसे पुस्तकालय स्थापित कराने चाहिए जिनमें केवल सृजनात्मक साहित्य हो । चूँकि ऐसी चीजें पढ़ने की जनता में रुचि नहीं, इसलिए पुस्तकें इकट्ठी कर देने से काम न चलेगा । हर पुस्तकालय में एक व्यक्ति ऐसा अवश्य हो जो घर-घर जाकर पुस्तक देने और वापस लाने का क्रम चलाता हो । उत्तम साहित्य इसी प्रकार लोकप्रिय हो सकता है । और जिनमें ऐसी व्यवस्था है वही पुस्तकालय सार्थक हैं । अब देव मंदिर नहीं, ज्ञान मंदिर बनाने चाहिए । इनका पुण्य सर्वोपरि है । कोई



नगर पुस्तकालय रहित न हो ऐसा प्रयत्न करें ।

(४) व्यायामशालाओं की हर जगह स्थापना । व्यायाम की उपयोगिता बता कर हर नर-नारी बाल-वृद्ध का उनके उपयुक्त मार्गदर्शन करना । स्वास्थ्य मेले तथा प्रतियोगिताओं का प्रचलन । लाठी तथा अस्त्र-शस्त्र सिखाने की शिक्षा, आसन, प्राणायाम, सूर्य नमस्कार का प्रशिक्षण । नारियों को वैयक्तिक व्यायाम की प्रेरणा । बाल क्रीड़ा उद्यान बनाना । युवकों में सामूहिक व्यायाम के लिए रुचि उत्पन्न करना ।

(५) शिक्षा का प्रसार । अपने देश में २० फीसदी शिक्षित हैं और ८० प्रतिशत अशिक्षित हैं । इस कलंक को धोना, विशेषतया प्रौढ़ शिक्षा एवं रात्रि पाठशालाओं द्वारा बड़ी आयु के नर-नारियों की शिक्षा व्यवस्था । स्कूलों का अभिवर्द्धन एवं उनकी उन्नति ।

(६) साक्षरता एवं सामान्य ज्ञान अभिवर्द्धन की व्यवस्था । कन्या पाठशालाओं की स्थापना, घर-घर जाकर कन्याओं को पढ़ाने की प्रेरणा, सिलाई तथा अन्य कुटीर उद्योगों की शिक्षा, प्रेरणाप्रद गीत याद कराना, विचार गोष्ठियाँ, तीसरे प्रहर उनके एकत्रित होकर उपयोगी सामाजिक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था । प्रौढ़ महिलाओं को शिक्षा देकर प्राइवेट रूप से सरकारी परीक्षाओं में सम्मिलित कराने की पाठशालाएँ ।

(७) विवाहों में आभूषण, दहेज एवं अपव्यय का विरोध, मृत्युभोज, अंधविश्वास, बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि कुरीतियों का उन्मूलन, भिक्षा व्यवसाय को मिटाना, नर-नारी को समान नागरिक अवसर मिल सके ऐसी विचारणा को प्रोत्साहन । फैशनपरस्ती मिटा कर सादगी का सम्मान, जाति-पाँति के नाम पर ऊँच-नीच की भावना को हटाना । कन्या पुत्र में भेद न करना । सीमित संतानोत्पादन ।

मूढ़ताओं को हटाकर विवेकशील समाज की रचना ।

(८) चोरी, बेईमानी, छल, शोषण, हराम की कमाई, रिश्वत, अकीर्ति, उच्छृंखलता, आलस, श्रमशीलता को हेय मानना । कायरता, अश्लीलता, गाली बकना, विलासिता आदि दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन । सदाचार, सचाई, सज्जनता, पुरुषार्थ, ईमानदारी, मधुरता जैसी सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन ।

(९) माँसाहार तथा जीवों को मार कर बनाई जाने वाली औषधियों का निषेध । पशुओं के साथ निर्दयता न होने देना । मारे हुए पशुओं के चमड़े का त्याग । शिकार खेलने के दुर्व्यसन की रोक, घायल घोड़े, गधे, बैल आदि से काम न लेना, न दूसरों को लेने देना । देवताओं को पशु बलि से कलंकित न करने देना, गौ-रक्षण, जीव दया जैसी मानवोचित सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन ।

(१०) शराब, गाँजा, चरस, अफीम, तम्बाकू, पान दुव्यर्सनों का प्रतिरोध ।

(११) शाक, भाजी, फूल एवं वृक्षों का आरोपण, वनस्पतीय हरियाली बढ़ाना, जहाँ खाली जगह हो वहाँ अन्न उगाना । गो दुग्ध की डेरियाँ चलाना । झूठन छोड़ने की बर्बादी की रोक ।

(१२) हाथ की चक्की से पिसा और भाप से पका भोजन, मसालों का प्रचलन घटाना, स्वच्छता की आदत, मुँह ढक कर न सोना, ब्रह्मचर्य पालन जैसे स्वास्थ्यवर्द्धक नियमों की आदत उत्पन्न करना । साप्ताहिक उपवास का प्रचलन ।

(१३) मंदिरों को सामाजिक एवं भावनात्मक प्रेरणा का केन्द्र बनाना, साधु और पुरोहितों को लोक सेवा के कार्य करने की प्रेरणा देना, वानप्रस्थ आश्रम का पुनः प्रचलन । दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखने का आंदोलन ।



(१४) जन्म दिवसोत्सवों और विवाह दिवसोत्सवों का व्यापक प्रचलन । पुंसवन, सीमांत, नामकरण, अन्न प्राशन, विद्यारंभ, यज्ञोपवीत, विवाह, वानप्रस्थ आदि संस्कारों को उत्साहपूर्वक मनाने की प्रथा आरंभ करना और इन माध्यमों से वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन उत्कृष्ट बनाने की समग्र शिक्षा देना । आदर्श विवाहों का आयोजन-इस उद्देश्य के लिए प्रगतिशील जातीय सम्मेलनों की व्यवस्था ।

(१५) श्रावणी, कृष्ण जन्माष्टमी, विजयादशमी, दिवाली, गीता जयंती, वसंत पंचमी, शिवरात्रि, होली, गायत्री जयंती, गुरु पूर्णिमा आदि पर्वों को सामूहिक रूप से मनाना और उनके माध्यम से जन साधारण को समुचित समाज निर्माण की शिक्षा देना ।

(१६) हर व्यक्ति को नियमित ईश्वर उपासना करने तथा स्वाध्याय के लिए समय नियत रखने की आवश्यकता अनुभव कराना ।

(१७) सत्कार्यों का अभिनंदन, सहकारी उपभोक्ता भंडार स्थापना, कविता सम्मेलन, अंत्याक्षरी सम्मेलन, संगीत शिक्षा, प्रेरक गीतों का प्रचलन, आदर्श चित्रों की प्रदर्शनी, प्रेरक अभिनयों की व्यवस्था, जीवन कला के शिक्षण शिविर, धर्म प्रचार की पद यात्रा, गीता सम्मेलन और रामायण सम्मेलनों का आयोजन, प्रेरक सत्य नारायण कथा का प्रवचन ।

(१८) दुष्प्रवृत्तियों के निवारण और सत्प्रवृत्तियों के हृदयंगम करने के लिए लोगों को तैयार करना और उनसे इस प्रकार के प्रतिज्ञा पत्रों पर हस्ताक्षर कराना ।

(१९) युग निर्माण शाखाओं के वार्षिकोत्सवों का सर्वत्र आयोजन ।

(२०) नव निर्माण के लिए जीवन अर्पण कने वाले सुयोग्य

नर-नारियों की एक बड़ी सेना संगठित करना । जिनकी निजी अजीविका है वे उससे गुजर करते हुए सामाजिक कार्य करें । जिन पर पारिवारिक जिम्मेदारी नहीं है वे निर्वाह मात्र लेकर समाज का काम करें । जिनके ऊपर बड़े परिवार की जिम्मेदारी है वे थोड़ा समय उसी में से निकाला करें । इस प्रकार नव निर्माण के लिए समय देने वाले जितने सुयोग्य और ईमानदार व्यक्ति मिल सकें उन्हें ढूंढ़ना चाहिए और नव निर्माण के लिए उत्साहपूर्वक जुट जाने की प्रेरणा देनी चाहिए । युग निर्माताओं की एक बड़ी सेना संगठित करना नितांत आवश्यक समझा जाय ।

संक्षिप्त में यह बीस आधार ऐसे हैं जिनमें शतसूत्री योजना का सार आ जाता है । हममें से हर व्यक्ति को इन कार्यों के लिए सचेष्ट रहना चाहिए । शाखा-संगठन के द्वारा मिल-जुल कर इन प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन के लिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप कुछ काम करने का उपाय सोचना चाहिए और जहाँ जो बन पड़े उसे कार्यान्वित करना चाहिए । नव निर्माण का क्षेत्र व्यापक है । शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक हर क्षेत्र में काम करने की आवश्यकता है । जिनकी क्षमता जैसी है वे वैसी प्रवृत्तियाँ अपने क्षेत्र में बढ़ावें । संगठित और सामूहिक रूप से हर कार्य अधिक अच्छी तरह होता है, इसलिए एकाकी ही न लगे रहकर संगठन करना चाहिए और सम्मिलित रूप से कार्य करना चाहिए । शाखाओं के संगठन इसी उद्देश्य से किए जाते हैं । रचनात्मक कार्य में रुचि लेकर हम सेवा धर्म के सच्चे अनुयायी और अनुगामी बन सकते हैं । इसी मार्ग पर चलते हुए अपना और सबका कल्याण किया जा सकता है ।



## बड़प्पन की नहीं, महानता की आकांक्षा जागृत करें

आजकल लोग बड़प्पन के पीछे अंधी दौड़ लगा रहे हैं और महानता की गरिमा भूलते चले जा रहे हैं । अहंता का पोषण करने वाले साधन जुटाने में जितनी रुचि दीख पड़ती है उतनी यदि दिव्यता के अभिवर्द्धन में लगी होती तो नर पशु से ऊँचा उठ कर मनुष्य ने नर-रत्न और नर नारायण पद प्राप्त कर लिया होता ।

निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता उचित है । पर जिनके पास गुजारे के लिए साधन मौजूद हैं वे संग्रह के पीछे क्यों पड़े हैं ? जिनके पास पूर्व संग्रह आजीवन निर्वाह कर सकने जितना मौजूद है फिर भी वे अधिक कमाई की हविस में जुटे हैं, यदि वे इस दिशा में लगी अपनी क्षमता को लोक कल्याण में लगा सके होते तो कितना अच्छा होता । गुजारे भर के लिए उपार्जन-संग्रह करके अनावश्यक बची शक्तियों को विश्व मानव के चरणों में समर्पण की नीति अपना कर चला गया होता तो मनुष्य संतुष्ट भी रहता, अनाचार भी न करता और लोक कल्याण की दिशा में बहुत कुछ हो सका होता ।

परिवार पालन एक बात है और परिवार तक ही सीमित हो जाना, उनके लिए नीति-अनीति अपनाकर बैठे खाते रहने जैसी पूँजी जुटाने में लगे रहना दूसरी बात । परिवार को सुसंस्कृत और स्वावलंबी बनाना एक बात है और लाड़-दुलार में उनकी हर इच्छा पूरी करना दूसरी बात । माली की दृष्टि रखकर भगवान का बगीचा परिवार हम सँभालें-सजाएँ इतना ही बहुत है । इन्हीं चंद लोगों पर जीवन संपदा को केन्द्रित और निछावर कर देना दूसरी बात है । परिवार के संबंध में हमारा दृष्टिकोण उलझा हुआ नहीं वरन् सुलझा हुआ स्पष्ट होना चाहिए ।

ईश्वर व्यक्ति नहीं है जिसे कुछ खिला-पिलाकर, दे-दिला कर, कह-सुनकर प्रसन्न किया जा सके । विश्व मानव, विश्व वसुधा को ही भगवान का साकार रूप माना जाय और ईश्वर अर्पण, ईश्वर पूजन का व्यावहारिक स्वरूप लोक मंगल के लिए बढ़-चढ़ कर अनुदान देने के रूप में प्रस्तुत किया जाय । अपने को, अपने साधनों को ईश्वर का समझना, ईश्वरार्पण करना-इसका सीधा-साधा अर्थ है अपने को समाज की अविच्छिन्न इकाई भर मानना और जो कुछ योग्यता तथा संपदा है उसे संसार को अधिक समुन्नत बनाने के लिए प्रत्यक्षतः समर्पण करना । मन ही मन सब कुछ भगवान को समर्पण करना और व्यवहार में पूरे कृपण-कंजूस बने रहना यह ढोंग आत्मवादी को नहीं आत्म प्रवचंक को ही शोभा देता है । ईश्वर से प्रेम करना अर्थात् उत्कृष्टता से प्यार करना । ईश्वर पूजन अर्थात् उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन में किया गया त्याग बलिदान है । संकीर्णता और लिप्सा को नियंत्रित किए बिना सेवा और परमार्थ का व्रत लिए बिना सच्ची ईश्वर भक्ति न किसी के लिए संभव हुई है, न आगे होगी । ईश्वर को एक प्राणी मान कर उसे बहलाने-फुसलाने के ढोंग रचते रहने वाले न भक्ति का स्वरूप समझते हैं और न उसका प्रतिफल प्राप्त करते हैं ।

भौतिक संपदाओं की इतनी भर आवश्यकता है जिससे अपना और अपने परिवार का पोषण हो सके, दूसरों पर आतंक जमाने, आकर्षित करने और उन पर अपनी दृश्यमान विशेषताओं की छाप डालने की बाल क्रीड़ा भावात्मक बचपन की निशानी है । रूप, शृंगार, कौशल, वैभव, पद का प्रदर्शन करके केवल हेय अहंता का ही पोषण होता है ।

आत्म कल्याण और ईश्वर प्राप्ति के लिए देवत्व की महानता उपलब्ध करने के लिए अन्यमनस्क भाव से कुछ पूजा-पत्री कर



लेना पर्याप्त न होगा वरन् उनके लिए मनोयोग, वैभव और वर्चस्व का सर्वोत्तम अंश नियोजित करना पड़ेगा ।

बड़प्पन के आकांक्षी महानता प्राप्त नहीं कर सकते हैं । महानता के उपासकों को बड़प्पन की अभिलाषा को नियंत्रित ही रख कर चलना होता है ।

## स्वयं बदलें – प्रवाह को उलटें

यह परिवर्तन का महान पर्व है । तमिस्रा के पलायन और दिनमान के ऊर्जा विस्तार का यह मध्यवर्ती प्रभात है । युग संधि के इन आगामी वर्षों में मनुष्य जाति के भविष्य में असाधारण उलट-पुलट होने जा रही है । महाकाल की गलाने और ढालने वाली भट्टी प्रचंड दावानल की तरह गगनचुंबी होती जा रही है । वर्तमान प्रचलनों की अवांछनीयता अगले दिनों ठहर न सकेगी । उसके स्थान पर आदर्शवादी उत्कृष्टता को सिंहासनारूढ़ होने का अवसर मिलेगा ।

इस प्रभात का, परिवर्तन का प्रथम दर्शन पर्वत शिखरों पर दृश्यमान किरणों की तरह होना चाहिए । इन दिनों कोई जागृत आत्मा मूक दर्शक बन कर न रहे । वे अग्रिम पंक्ति में खड़े हों और महाकाल के अनुशासन को सर्वप्रथम धारण करके मूर्धन्यों, वरिष्ठों की तरह श्रेयाधिकारी बनें ।

इन दिनों जिनके अंतराल में स्रष्टा के युग परिवर्तन प्रयास के प्रति उत्साह जगता हो, भागीदार बनने के लिए उमंग उठती हो, उन्हें इस हलचल को दैवी प्रेरणा एवं आत्मा की पुकार की तरह महत्व देना चाहिए । सोचना कि जब असंख्यों के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती तो उन्हीं को यह कसक क्यों कचोटती है ? पूर्व जन्मों के संचित सुसंस्कार ही आदर्शवादी प्रयासों में अग्रिम भूमिका निभाने की

प्रेरणा देते हैं । पिछले अभ्यास एवं अनुभव ही परमार्थ प्रयोजनों का उत्तरदायित्व कंधों पर उठाने का साहस प्रदान करते हैं । जागृत आत्माओं को इन उठती उमंगों के आधार पर अपनी वरिष्ठता अनुभव करनी चाहिए । दूसरों से भिन्न मानकर चलना चाहिए । उथले परमार्थ स्वीकार करने के स्थान पर अपना स्थान असंख्यों को मार्गदर्शन कर सकने वाले मूर्धन्यों की पंक्ति में निर्धारित करना चाहिए । ऐसी दशा में उनके सोचने का स्तर एवं कार्य पद्धति का निर्धारण भी भिन्न रहेगा । उथले लोगों के उपहास, परामर्श, मतभेद, असहयोग, विरोध की परवाह न करते हुए मूर्धन्य एकाकी चलते हैं और सूर्य-चंद्र की तरह अपने बलबूते अपना मार्ग चुनते हैं । वही मनःस्थिति जागृत आत्माओं की भी होनी चाहिए । महानता के श्रेयाधिकारी, देवदूतों के उत्तराधिकारी बनने का लाभ उन्हें ही मिलता है जो आदर्शवादियों की अग्रिम पंक्ति में खड़े होते हैं और बिना किसी के समर्थन, विरोध की परवाह किए आत्म प्रेरणा के सहारे स्वयमेव अपनी दिशाधारा का निर्माण-निर्धारण करते हैं ।

दूसरों की अपेक्षा अपनी रीति-नीति में प्रमुख परिवर्तन यहाँ से आरंभ होना चाहिए कि आकांक्षाएँ-अभिलाषाएँ वैभव-बड़प्पन से हटाकर व्यक्तित्व को महान बनाने और जीवनक्रम को अनुकरणीय, अभिनंदनीय स्तर तक ले जाने की योजना बनाएँ । दूसरों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने, सस्ती वाहवाही लूटने की बात छोड़ें और उस मार्ग को खोजें जिस पर अपनी महानता को जागृत, प्रकट, परिपुष्ट और चिरस्मरणीय बनाने का अवसर मिलता है । कुछ प्राप्त करना ही है तो ऐसा पाएँ जिसमें आत्म तृप्ति, लोक श्रद्धा और दैवी अनुकंपा के अजस्र अनुदान प्राप्त हों । कुछ पराक्रम करना, कुछ वर्चस्व ही सिद्ध करना है, तो ऐसा सेतु बाँधें, कोई ऐसा जहाज बनाएँ



जिसके सहारे असंख्यों को प्रचंड जलधारा का अवरोध पार करते दूसरे किनारे तक पहुँचाने का अवसर मिले । पुरुषार्थ करना है तो उच्चस्तरीय करें । वैभव उपार्जित करना ही हो तो ऐसा कमाएँ जो न केवल अपने वरन् दूसरों को भी काम आए । शूरवीर वधिकों और कसाइयों को नहीं कहते, योद्धा वे हैं जो निर्बलों को अनीति से बचाने में अपनी छाती अड़ा सकें ।

बड़प्पन न संचय में है, न उपभोग में । ठाठ-बाट बनाने में नाटक वाले अधिक कुशल होते हैं । अभिनेता इस कला में प्रवीण होते हैं । खजांची आए दिन लाखों के वारे-न्यारे करते हैं । सर्प खजाने पर बैठे रहते हैं । लोगों का ध्यान आकर्षित करने में तो सड़क पर नंगे घूमने वाले पागल भी सफल हैं । इन बचकानी हरकतों को कोई विचारशील न अपनाए । सोचें कि बड़प्पन एक दृष्टिकोण है जिसमें सदा ऊँचा उठने, आगे बढ़ने, रास्ता बनाने, जो श्रेष्ठ है उसे अपनाने की उमंग उठती और हिम्मत बँधती है । राजहंसों की रीति-नीति यही है । वे निजी जीवन में मोती चुगते हैं । नीर-क्षीर विवेक को अपनाए रहते हैं और सब कुछ करने की योजना बनाते हैं तो समुद्र पार तक उड़ जाने या गायत्री जी, ब्रह्मा जी जैसे देवाधिदेवों को पीठ पर लादे रहने की विशिष्टता प्रकट करते हैं ।

प्रज्ञापुत्रों का चिंतन और चरित्र ऐसा ही होना चाहिए । उनकी उमंगों में, आकांक्षाओं में, गतिविधियों में, विभूतियों में, प्रशंसाओं में कुछ ऐसी विशेषता होनी चाहिए जिससे दूसरों को प्रेरणा मिले । दीपक की तरह प्रकाशवान रहने और वातावरण में आलोक भरे रहने का गौरव कम नहीं है । भले ही इसमें संचित संपदा चुकती हो, भले ही जलन सहनी पड़ती हो । ओलों का अनुकरण न किया जाय जो बादलों पर घूमते हैं । सफेद और ठंडे भी दिखते हैं किन्तु

गतिविधियों का लेखा-जोखा लेने पर फसल को जलाने और अपने को गलाने में ही उनकी संपदा का अंत दिखता है । ध्वंस तो माचिस भी कर सकती है । काँटा भी प्राणघातक हो सकता है । अपना पराक्रम बुहारी जैसा, सूपे जैसा, साबुन जैसा, कपास जैसा सृजनात्मक रहे तो क्या हर्ज है । घास जैसे उगें, हरीतिमा बिखेरें और दूसरों के काम आएँ तो यह उपक्रम भी बुरा नहीं है ।

उनकी नकल न करें जिनने अनीतिपूर्वक कमाया और दुर्व्यसनों में उड़ाया । बुद्धिमान कहलाना आवश्यक नहीं । चतुरता की दृष्टि से पक्षियों में कौवे को और जानवरों में चीते को प्रमुख गिना जाता है । ऐसे चतुरों और दुस्साहसियों की बिरादरी जेलखानों में बनी रहती है । ओछों की नकल न करें । व्यक्तित्व की दृष्टि में बचकाने, लालची, उद्धत, उच्छृंखल लोग अपने मार्गदर्शक न बनें । आदर्शों की स्थापना करते समय श्रेष्ठ सज्जनों को, उदार महामानवों को ही सामने रखें । पतितों की प्रशंसा करने, उन्हीं का अनुसरण करने की भूल न करें । सस्ती उपलब्धियाँ कमाने में प्राय: धूर्तता को ही सफलता मिलती है । पर स्मरण रखा जाय कि वह उपार्जन बहुत महँगा पड़ता है । संपत्तिवान होने के कारण किसी को भी श्रेय न दें और न उनकी राह पर चलने की उतावली करें । इसमें जोखिम ही जोखिम है ।

युग परिवर्तन का शुभारंभ प्रज्ञा परिजनों के दृष्टिकोण निर्धारण एवं क्रिया में आलोक भरने के रूप में होना चाहिए । इंजीनियर हों तो भवन बनें, डॉक्टर हों तो अस्पताल चलें, अध्यापक हों तो बच्चे पढ़ें, सेनापति हों तो सिपाही लड़ें । अग्रगामी रास्ता दिखाते ही नहीं बनाते भी हैं । यदि वह सही दिशा में जाता होगा और सीधा होगा तो उस पर चलने वाली भीड़ की कमी न रहेगी । कठिनाई तो आरंभ में ही होती है । ढर्रे चल पड़ें तो बड़े-बड़े उद्योगों को मुनीम, गुमास्ते



भी चलाते रहते हैं । युग सृजन में प्रमुख भूमिका उनकी होगी जो आगे चलेंगे अर्थात् अपने व्यक्तित्व और प्रयास में ऐसी आदर्शवादिता भर देंगे जिसे देखकर उस अनुकरण का साहस जन-जन में उभरे । युग परिवर्तन का श्रीगणेश अपने निजी क्षेत्र में प्रज्ञा परिजनों को करना है । उन्हें इस प्रकार का साँचा बनना है जिससे सटने वाले ठीक उसी तरह के बनते चले जायें ।

इस संदर्भ में प्रथम निर्धारण यह है कि लोक प्रवाह से तनिक भी प्रभावित न हुआ जाय । लोगों को 'अंधी भेड़ों की मंडली' भर समझा जाय और यह मानकर चला जाय कि अपनी विशिष्ट सत्ता इनका मार्गदर्शन करने के लिए हुई है । पथ प्रदर्शक अपनी स्वतंत्र सूझ-बूझ का परिचय देते हैं । उन्हें उथले परामर्शदाताओं की उपेक्षा ही करनी पड़ती है । भटके लोग तो दूसरों को भटका ही सकते हैं ।

मानकर चलना होगा कि नित्यकर्म, निर्वाह क्रम के सामान्य लोक व्यवहार को छोड़कर प्रज्ञा परिजनों को अपनी आकांक्षा, कार्यविधि, आदतें लगभग ऐसी बदलनी चाहिए जिसे व्यक्तित्व का कायाकल्प कहा जा सके । गीता में योगी के लक्षण बताते हुए कहा है, वे दिन में सोते और रात में जागते हैं अर्थात सामान्य जनों से अपनी गतिविधियाँ भिन्न प्रकार की बनाते हैं ।

लोगों के दृष्टिकोण, जीवनक्रम एवं प्रयास का शवच्छेद किया जाय तो उसमें से अधिकांश रावण, कुंभकर्ण, मारीच, कंस, दुर्योधन, जरासंध, हिरण्यकश्यप, वृत्रासुर, भस्मासुर के भाई-भतीजे दिखाई पड़ेंगे । अंतर इतना ही है कि योग्यता एवं समर्थता के अभाव में मनचाही कर नहीं पाते । रीति-नीति उनकी उसी स्तर की है । सूर्पनखा, ताड़का, त्रिजटा, सुरसा, पूतना, मंथरा घर-घर में विराजमान हैं । अंतर साधन और अवसर न मिल पाने जितना है । इन लोगों के

बीच रहते हुए भी कमल पत्र की नीति बनानी चाहिए । सुदामा, केवट, हनुमान, भगीरथ जैसों का अनुकरण करने में घाटा नहीं सोचना चाहिए । कौशल्या, सुमित्रा, उर्मिला, कुंती, मदालसा, मीरा, संघमित्रा का रास्ता अपनाने में कोई घाटा नहीं । पिछला जीवन उथला रहा हो तो भी भविष्य का उज्ज्वल निर्धारण करने में कोई अड़चन नहीं । वाल्मीकि, अंगुलिमाल, बिल्व मंगल, अजामिल जैसे बदल सकते हैं । आम्रपाली, वासवदत्ता की कथाएँ बताती हैं कि सामान्य स्तर से गई-गुजरी नारी भी आंतरिक परिवर्तन होने पर विश्व विभूति बन सकती है । आदर्शवादी परिवर्तन के लिए जीवन का हर क्षेत्र, संसार का हर कोना खुला पड़ा है ।

सर्वप्रथम अपने समय और खर्च को कसना चाहिए । औचित्य की सीमा समझी जाय और उपभोग, संचय, व्यामोह, खुशामद की अभ्यस्त आदतों को उलट दिया जाय तो अगले ही दिन अभ्यस्त ढर्रा, रवैया बदलने लगेगा । मन:स्थिति न परावलंबियों जैसी रहेगी, न दीन-दयनीयों जैसी । आत्मबोध उभरते ही प्रतीत होगा कि न केवल निर्वाह के साधन पर्याप्त हैं वरन देने के लिए भी विपुल वैभव अपने पास विद्यमान है । धन न सही समय, श्रम, प्रभाव, प्रतिभा की दृष्टि से भगवान ने किसी को भी दरिद्र नहीं बनाया । इन्हें बर्बादी से बचाने के उपरांत हर व्यक्ति इस स्थिति में होगा कि वह समाज और संस्कृति को बहुत कुछ दे सकेगा । असंख्य को रास्ता बताने में लाल मशाल हाथ में लिए वह आगे-आगे चल सकेगा ।

लोग कुरीतियों के अभ्यस्त हैं । हम क्यों उनका अनुसरण करें । लोग अंधाधुंध बच्चे जनते, उनके लिए कुबेर का वैभव जुटाने की बात सोचते हैं । हम क्यों न अपने बालकों को श्रमजीवी एवं सृजन सहयोगी बनाएँ । शादियों में पैसे की होली फूँकने की जरूरत



क्या है ? ठाठ-बाट का अमीरी का खर्चीला स्वांग क्यों करें ?

लोगों की आदतें बिगड़ गई हैं । वे चटोरेपन में लिप्त रहकर खोखले बनते जा रहे हैं । हमें वैसा करने की क्या पड़ी है ? लोगों को अनीति उपार्जन और संचय-अपव्यय में उसका समापन करने की आदत है, हम क्यों वैसा करें । लोग नशा पीते हैं, अभक्ष्य खाते हैं, दुर्व्यसनों में डूबे, कुकर्म करते रहकर जिंदगी के दिन काटते हैं । क्या स्वजन-संबंधी होने के नाते इन्हीं का दबाव माना और इन्हीं का अनुसरण किया जाय ? मूढ़ मान्यताओं में जकड़े, अनाचारों से अभ्यस्त, कुचक्री, षड्यंत्ररत लोगों को न हमारा परामर्शदाता होना चाहिए न सूत्र-संचालक, न नेता । भले ही वे अपनी चतुरता के कारण बड़े लोगों में गिने जाने लगे हों । कोई ब्राह्मण वंश में जन्मा है या साधुवेष धारण करता है, अधिक पढ़ा है या पदाधिकारी बन गया है । इनमें से एक भी ऐसा कारण नहीं है जिससे इन्हें नीति निर्धारक माना जा सके । इस अज्ञान, अंधकार, अनाचार और दुराग्रह के माहौल में हमें समुद्र में खड़े स्तंभों की तरह एकाकी खड़े होना चाहिए । भीतर का ईमान, बाहर का भगवान यदि इन दो को मजबूती से पकड़ें और विवेक तथा औचित्य के दो पग बढ़ाते हुए लक्ष्य की ओर एकाकी बढ़ें तो इसमें सच्चा शौर्य पराक्रम है । भले ही लोग उपहास उड़ायें या असहयोगी, विरोधी रुख बनाए रहें ।

युग परितर्वन में जिस सतयुग के अवतरण का लक्ष्य है उसे प्रज्ञा परिजन सर्वप्रथम आत्म सत्ता में अवतरित करें । एक जलता दीपक असंख्य को जला देता है । इस तथ्य पर विश्वास करें । स्वयं बदलें, प्रवाह को पलटें और पराक्रमी युग प्रवर्तकों की अग्रिम पंक्ति में खड़े हों । यही है समय की माँग और आत्मा की पुकार जिसे कोई भी प्राणवान अनसुनी न करे । ●

# भटकाव न आने दें, अवरोधों से विचलित न हों

भोजन पकाने, परोसने, खाने में साधारण रीति से हाथ धो लेना भर पर्याप्त होता है किन्तु इंजेक्शन की सुई का प्रयोग करते समय उसकी शुद्धि के लिए खौलते पानी का, कीटाणुनाशक रसायनों का प्रयोग करना पड़ता है । मिट्टी के खिलौने बनाने में भोंड़े साँचे भी काम दे जाते हैं । पर घड़ी के पुर्जे ढालने के लिए साँचे अत्यधिक सही बनाते जाते हैं । लोक सेवी कार्यकर्ताओं में कुछ तो ऐसे होते हैं जो वस्तुओं का निर्माण, वितरण करते हैं, उनके स्तर में कमी हो तो साधनों का घटिया होना या मँहगा पड़ना जैसी हानियाँ ही होती हैं जिन्हें आसानी से सहन कर दरगुजर किया जा सके किन्तु भावनात्मक नव निर्माण का कार्य हाथ में लेने वालों का स्तर घटिया रहे तो काम बनता ही नहीं । सभी जानते हैं कि दूध में एक मक्खी पड़ जाने पर पीने वाले को लाभ के स्थान पर उलटी होने का नया संकट सहन करना पड़ता है । कप्तान की तनिक सी चूक का परिणाम समूची सेना के विनाश का ही नहीं उस देश का भविष्य अंधकारमय बना देने का भी निमित्त कारण बनता है । जिन्हें नेतृत्व करना है, मार्गदर्शक की भूमिका निभानी है उन्हें समान्य लोगों के स्तर का नहीं वरन् कहीं अधिक ऊँचा होना चाहिए । जन समुदाय का उद्बोधन करने वाले वक्ता ऊँचे मंच पर बैठते हैं । अन्यथा उनका वचन सुनना, भाव मुद्रा देखना, व्यक्तित्व परखना संभव न हो सकेगा । श्रोता की बराबर की पंक्ति में, उसी ऊँचाई पर बैठा हुआ वक्ता कितना अटपटा लगेगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है । ठीक यही बात उन मार्गदर्शकों के संबंध में समझी जानी चाहिए



जो अपने कौशल में प्रवीण नहीं हैं ।

जानकारियों का आदान-प्रदान वाणी, लेखनी द्वारा हो सकता है । आँखों से देखकर, अभ्यास में निरत रहकर भी भौतिक ज्ञान का अर्जन किया जा सकता है किन्तु जहाँ उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ उपलब्ध करने का प्रश्न है वहाँ विशिष्ट व्यक्तियों को अपना अनुकरणीय उदाहरण ही प्रस्तुत करना पड़ता है । अन्यथा लोग प्रचलन के अभाव में श्रेय पथ को अवश्य ही मानते रहेंगे परंतु अनुकरण का अभाव दिखेगा । यही हो रहा है । ऐसे व्यक्ति मिलते नहीं जो अपना उदाहरण प्रस्तुत करके जन साधारण को यह विश्वास दिला सकें कि आदर्शवादिता का अपनाया जाना शक्य ही नहीं सरल, सुखद एवं हर दृष्टि से लाभदायक भी है । मानवी मनःसंस्थान की संरचना अनुकरण प्रिय है । आमतौर से गूँगों में मौलिक कमी बहरेपन की होती है । सुनकर ही शब्दज्ञान और उच्चारण का अभ्यास होता है । सुनने को ही न मिले तो फिर अनुकरण करते हुए बोलने की व्यवस्था कैसे बने ? संस्कृतियों की संरचना में एक समुदाय के लोगों का एक तौर-तरीके की जीवनयापन पद्धति होती है । नई पीढ़ियाँ उसी का अनुकरण करती हैं । उसी के सही होने का विश्वास करती हैं । इतना ही नहीं दूसरे दृष्टिकोण एवं प्रचलन को गलत कहती और लड़ती भी पाई जाती हैं । अनुकरण प्रियता के कारण ही व्यक्ति और समाज में आज का ढाँचा खड़ा हुआ है । दुर्व्यसन, अनाचार और हेय रुझान का कारण और कुछ नहीं दूसरों की देखा देखी अनेकानेक का उस मार्ग पर चल पड़ना ही है । नशेबाजी, फैशन, आलस्य, प्रमाद जैसी अनेक बुराइयाँ छूत रोगों की तरह फैली हैं । प्राचीनकाल में जब श्रेष्ठता का प्रचलन था तो एक का अनुगमन करके दूसरा भी वैसा बनता था ।

इस संदर्भ में आज की सबसे बड़ी कमी एक ही है कि आदर्शों

को व्यवहार में उतारने वालों के उदाहरण देखने को नहीं मिलते । मात्र चर्चा भर होने से यह प्रयोजन पूरा नहीं होता । कथन, श्रवण तो परलोक और तिलस्म का भी खूब होता है । उसे लोग रुचिपूर्वक पढ़ते हैं किन्तु साथ ही यह भी समझते हैं कि सब बकवास है । ठीक यही बात इन दिनों आदर्शों की व्यावहारिकता के संबंध में है । 'पर उपदेश कुशल' होने की विडंबना तो अनेक रचते हैं । वाणी और लेखनी के पराक्रम इस क्षेत्र में भी देखते ही बनते हैं । पर उन्हें भी समझा तिलस्म ही जाता है । उस आधार पर कोई अपनी जीवनचर्या ढालने की बात नहीं सोचता । ऐसी दशा में लोकमानस बदलने की, चरित्रों में आदर्शवादिता उतारने की आवश्यकता कैसे पूरी हो ? अंधी आँख के तिल की तरह पुरातन इतिहास ही कुछ धीरज बँधाता है । उतने से ही कोई प्रकाश ले सके और दिशा खोजकर चल पड़े तो इसे स्वाभाविकता नहीं, व्यक्ति विशेष की संचित सुसंस्कारिता अथवा अपवाद की तरह जब तब पाई जाने वाली साहसिकता ही कही जायेगी ।

वेश्या अपने जीवन में सैकड़ों नए भड़ुए बना देती है और पुराने भड़ुओं का साहस बढ़ाती है । चोर, उचक्के, व्यसनी, जुआरी भी अपनी बिरादरी निरंतर बढ़ाते रहते हैं । इसका एक ही कारण है कि उनका चरित्र और चिंतन एक होता है । दोनों के मिलन पर ही प्रभावोत्पादक शक्ति का उद्‌भव होता है । किन्तु आदर्शों के क्षेत्र में यही सबसे बड़ी कमी है । इस स्तर की बकवास करने वाले धर्मोपदेशक बरसाती मेंढकों की तरह बढ़ते और अपनी टर्र-टर्र से आसमान गुँजाते ढेरों देखे जा सकते हैं किन्तु जो आदर्शों को व्यवहार में उतार कर दिखाएँ ऐसों की भारी कमी ही रही है । इसके अभाव में एक भयानक अवरोध सामने आ खड़ा होता है । उत्कृष्टता अपनाने



के लिए साहस उत्पन्न करने वाले अग्रगामी न हों तो इंजन के अभाव में डिब्बे दौड़ने का सुयोग कैसे पाएँ ?

युगशिल्पियों को बहुत कुछ करना और कराना है । किन्तु स्मरण रहे, अपना निर्धारण, प्रयास एवं कार्यक्षेत्र व्यक्तियों को परिष्कृत करना है । इसी से देव समाज की संरचना संभव होगी । साँचे इसी क्षेत्र के तैयार करने होंगे ताकि उनके सहारे नये खिलौने, पुर्जे ढाला जा सकना संभव हो सके । यदि यह न बन पड़ा तो उस कथानक की पुनरावृत्ति होती रहेगी जिसमें चूहों की पंचायत ने बिल्ली के गले में घंटी बाँध देने का फैसला तो किया पर उस कार्य को करने के लिए कोई आगे न आया । फलतः पंचायत विसर्जित हो गयी । युग-सृजन के लिए विचारों का निर्माण, उनका लेखनी, वाणी एवं प्रचार माध्यमों से विस्तार करने की आवश्यकता से कोई इन्कार नहीं करता, पर गाड़ी तब तक दलदलों में फँसी पड़ी रहेगी जब तक कि आदर्शवादिता अपनाने वालों के उदाहरण सामने न आएँगे । हनुमान ने आगे आकर रीछ-वानरों में अनुकरण का उत्साह उत्पन्न किया । बुद्ध और गांधी ने प्रवचनों से नहीं अपने चरित्र को आगे रखकर अनुगामियों का पथ प्रशस्त किया था । महामानवों को अपनी जीवनचर्या उस प्रकार की विनिर्मित करनी पड़ती है जिससे दूसरों को प्रभावित होने, प्रेरणा ग्रहण करने और अनुगमन का साहस उपलब्ध करने का पथ प्रशस्त हो ।

युगशिल्पियों के कंधों पर जो अति महत्वपूर्ण कार्य है उनमें से प्रमुखता देने योग्य यह है कि वे अपनी प्रचार प्रक्रिया का कारगर शस्त्र-अपने साहस एवं विश्वास का प्रत्यक्ष प्रमाण लोगों के सामने प्रस्तुत करें । दूसरों से जो कराना चाहते हैं वह स्वयं कर दिखाएं । युग निर्माण मिशन के सूत्र संचालक को सर्वप्रथम अपना उदाहरण

प्रस्तुत करना पड़ा है । इतने अनुयायियों और सहचरों के सहयोग से हमारी लेखनी-वाणी ने जो कुछ किया है उससे हजार गुना कार्य उस चरित्र निष्ठा ने कर दिखाया है जो रोम-रोम में बसी हुई और पग-पग पर व्यवहृत देखी गई । युगशिल्पी को जहाँ अनेकानेक कार्य करने हैं वहाँ इस प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति को भी सर्वप्रथम ध्यान में रखना है ।

कहा जा चुका है कि नव सृजन की युग पुकार को सुनने अपनाने और उस दिशा में कुछ करने का यदि सचमुच ही मन हो तो अंतर में बसे लोभ-मोह और अहंकार के चक्रव्यूह को भेदना पड़ेगा । इसके बिना चासनी में पर फँसाकर अदूरदर्शी मक्खी की तरह बेमौत मरने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । कल्पना को व्यवहार में उतारना हो तो कुछ साहस और उसका सर्वप्रथम प्रयोग अभ्यास अपनी उस कुसंस्कारिता के विरोध में करना होगा जिसने लोभ, मोह और अहंकार के रूप में हाथ, पैर और कमर को कसने में हथकड़ी, बेड़ी और बंधन रज्जु की भूमिका निभाई है । इस संदर्भ में जो जितना साहस कर सकेंगे उनका मार्ग उतना ही प्रशस्त होता जायगा । फिर उन्हें न कठिनाइयाँ हैरान करेंगी और न समस्याओं के कारण आगे बढ़ने में असमंजस का सामना करना होगा ।

जो आगे बढ़ें उन्हें ध्यान रखना है कि प्रवाह से उलटा चलने का उनका प्रयास सर्वत्र आश्चर्य की तरह देखा जाएगा और कौतूहल भरी असंख्य आँखें उन्हें भीतर और बाहर से देखने के लिए केन्द्रीभूत होने लगेंगी । किसके भीतर क्या है उसे कौन जाने ? अनुमान तो बहिरंग को देखकर ही लगता है । साइनबोर्ड देखकर ही व्यवसाय का पता चलता है । दुकान में घुसकर माल-असबाब कौन देखता है ? युगशिल्पियों का न केवल अंतरंग उच्चस्तरीय होना चाहिए वरन्





आच्छादन, कलेवर, व्यवहार में भी उच्चस्तर की सादगी, शालीनता रहनी चाहिए जिससे दर्शकों की निष्ठा में कमी न पड़े । बढ़ोत्तरी ही होती रहे । इस संदर्भ में कुछ सामान्य बातें नोट की जानी चाहिए जो महत्वहीन होने पर भी लोगों को अनुमान लगाने में निमित्त कारण बनती हैं । जैसे केश विन्यास छैल-छबीले जैसा हो तो हर किसी को वह मनचला, शृंगारिक प्रकृति का समझने का भ्रम रहेगा । पोशाक लिबास में राजसीपन हो तो फिर यह विश्वास दिलाना कठिन हो जाएगा कि पहनने वाला सात्विक प्रकृति का हो सकता है । आहार में चटोरपन झलके तो फिर संयमशील होने का विश्वास नहीं दिलाया जा सकेगा । दिनचर्या में नियमितता और कार्यपद्धति में सुव्यवस्था जुड़ी न रहे तो जागरूकता और तत्परता के उन सद्गुणों का अभ्यस्त न माना जाएगा जो हर युग प्रहरी में अनिवार्यतः होने ही चाहिए । निरहंकारिता लोकसेवी का सबसे बड़ा गुण है । यदि बात-बात पर तुनकने, आवेश में आने, कटुवचन बोलने, व्यंग्य-उपहास करने की आदत हो तो मूर्धन्य लोगों के लिए उपयुक्त शालीनता का अभाव हर किसी को अखरेगा । ऐसी दशा में उसकी प्रभावोत्पादक शक्ति में भारी कमी दृष्टिगोचर होगी । युग सृजेताओं को निरंतर जनसंपर्क में रहना पड़ता है । अपने देश की परंपरा के अनुसार वयस्क नर-नारियों को आँख भर देखना और हँसना-बोलना तक संदेह उत्पन्न करता है । ऐसी दशा में उस संदर्भ में सतर्कता क्यों न बरती जाय ? ऐसा अवसर ही क्यों आने दिया जाय ? नर और नारी एकांत वार्ता न करें, कानाफूसी न करें तो फिर उस अनुपयुक्त चर्चा का आधार ही खड़ा न होगा जो सार्वजनिक क्षेत्र में नर-नारियों के घुलने-मिलने में तनिक-सी असावधानी बरतने पर अकारण ही फैलती और बात का बतंगड़, तिल का ताड़ बनती है ।

हिसाब-किताब के मामले में अपनी स्थिति शीशे की तरह स्पष्ट रखनी चाहिए । धातु न छूने की प्रतिज्ञा तो किसी से नहीं कराई जा रही । पर, इतना अवश्य कहा जा रहा है कि सार्वजनिक धन की पाई-पाई का हिसाब इस प्रकार खुला हुआ रखें कि उसे कोई कभी भी देख सके और हेरा-फेरी किए जाने का इल्जाम लगाने का साहस कोई भी न कर सके ।

इस संदर्भ में निरंतर आत्मसमीक्षा करके स्वयं ही यह देखते ही रहना पड़ेगा कि कि जो दूसरों से कराया जाना है वह अपने आप से करना आरंभ किया गया या नहीं । यह बात हजार बार स्मरण रखने की है कि हर युग शिल्पी एक साँचा है । उससे चिपकने वाले वैसे ही बनेंगे जैसा कि वह स्वयं है । इसलिए यह भूलना नहीं चाहिए कि अपनी आस्था, प्रामाणिकता, सात्विकता का स्तर ऐसा होना चाहिए जिससे संपर्क में आने वालों को आदर्शवादिता अपनाने की प्रेरणा मिले । असमंजस उत्पन्न करने वाली कुटेवों से तो हर हालत में बचना ही चाहिए भले ही वे तथ्यत: अधिक महत्वपूर्ण न भी हों । हजार आँखें जिस पर गड़ी रहें उसे श्रेष्ठता की हर कसौटी पर अपना आपा स्वयं ही कसते रहना चाहिए ताकि कहीं से उँगली उठने की गुंजायश न रहे ।

प्रत्येक लोकसेवी के समक्ष समय-समय पर अलग अलग परिस्थितियाँ आती रहती हैं । अपना आपा उनसे जूझ नहीं पाता उसका एक ही कारण हो सकता है कि स्वयं अपने जीवन में उसका अभ्यास कभी किया नहीं गया । परिस्थितियों का स्वरूप भिन्न हो सकता है और कमजोर मनोभूमि के व्यक्तियों को विचलित कर सेवा पथ से हटने के लिए वे बाध्य कर सकती हैं । उदाहरण के लिए व्याप्त दु:स्थितियों को देखकर हर विचारशील व्यक्ति के मन में यह



आकांक्षा उठती है कि इन्हें बदला जाय । लोग सोचते हैं कि जन जीवन में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ें और लोगों को समझाया जाय कि वे इन दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ें । परंतु वह देखता है कि लोग अपनी प्रत्यक्ष हानि को देखकर भी इन्हें नहीं छोड़ रहे हैं तो वह सोचने लगता है कि मैं यदि इनसे कहूँगा तो ये मेरी क्या सुनेंगे, उल्टे मेरा मजाक उड़ाएँगे ।

यह सोचकर ही अधिकांश लोग सेवा की भावना होते हुए भी उसके लिए कदम नहीं उठाते । उन्हें सोचना चाहिए कि प्रत्येक कार्य का अनुकूल-अपेक्षित परिणाम हो ही, यह आवश्यक नहीं है । कार्य भी कोई इस उद्देश्य से नहीं किए जाते कि असफलता मिले, पर असफलता की संभावना से तो काम रोक नहीं दिया जाता है । विद्यार्थी जानता है कि हम फेल भी हो सकते हैं, व्यापारी के लिए भी घाटा होने की संभावना हर घड़ी मौजूद रहती है लेकिन इस कारण विद्यार्थी परीक्षा नहीं छोड़ देता और न ही व्यापारी अपने व्यवसाय से हाथ खींच लेता है । सफलता और असफलता दोनों ही संभावनाएँ प्रत्येक कार्य के साथ जुड़ी होती हैं इसे सब जानते हैं, पर असफलता के डर से कोई निष्क्रिय-निश्चेष्ट नहीं हो जाता । यह तो हुई जन-सामान्य की बात, लोक सेवी का दृष्टिकोण तो जन-सामान्य से ऊँचा ही रहना चाहिए । उसे सफलता-असफलता की चिंता न करते हुए अपनी सेवा-साधना चुपचाप जारी रखनी चाहिए । इस संबंध में भगवान बुद्ध और उनके शिष्य का प्रसंग बड़ा ही प्रेरणादायक है । भगवान बुद्ध ने अपने उस शिष्य से पूछा-"तुम धर्म प्रचार के लिए जा रहे हो, अगर लोगों ने तुम्हारी बातें नहीं सुनीं तो ?"

शिष्य ने कहा-"मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने मुझे गाली तो नहीं दी ।" बुद्ध ने आगे पूछा-"अगर वे तुम्हें गाली देने लगे तो ?" तब शिष्य ने कहा-"मैं फिर भी उनका कृतज्ञ

होऊँगा कि उन्होंने मुझे मारा नहीं ।"

बुद्ध शिष्य की निष्ठा का अंत तक थाह लेना चाहते थे । उन्होंने फिर पूछा-"अगर वे तुम्हें मारने भी लगें तो ?" तब शिष्य ने कहा-"फिर भी हृदय से उनके प्रति कृतज्ञ होऊँगा कि उन्होंने मेरे प्राण नहीं लिए ।" बुद्ध ने फिर भी पूछा-"यदि वे तुम्हें मार भी डालें तो ।"

तब शिष्य ने कहा-"फिर भी वे मेरा उपकार ही करेंगे कि मुझे इस दुखमय संसार से उन्होंने त्राण दिला दिया ।" इस स्तर की निष्ठा का विकास ही सेवा धर्म को अंगीकार करने में सफल बना सकता है । प्राचीनकाल से अब तक के इतिहास में जितने भी लोकसेवी हुए हैं उन्होंने निष्ठा को सान पर चढ़ाया और उसे चमकाया, प्रखर बनाया है । लोक सेवियों में निष्ठा का सर्वथा अभाव होता हो ऐसी बात भी नहीं है । निष्ठा न होती तो वे सेवा के क्षेत्र में आते ही क्यों ? परंतु प्रश्न निष्ठा का नहीं, प्रश्न है निष्ठा की प्रखरता का । कई परिस्थितियाँ ऐसी भी आती हैं जिनमें दुर्बल निष्ठा वाले व्यक्ति सेवा धर्म को कष्टसाध्य या दुःसाहस समझकर बीच में ही छोड़ देते हैं ।

उदाहरण के लिए बहुत से लोग प्रारंभिक असफलताओं के कारण ही सेवा धर्म से विमुख हो जाते हैं । जबकि यही असफलताएँ यदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में आएँ तो उनकी कार्यविधि में कोई अंतर नहीं आता, न वे रुकते ही हैं । फिर सेवा में मिलने वाली असफलता से ही असंतोष क्यों । यदि कार्य को ही अपना जीवन ध्येय बना लिया जाय और सफलता, असफलता की चिंता न की जाय तो सेवा मार्ग पर निर्बाध बढ़ते रहा जा सकता है । सफलता और असफलता प्रत्येक कार्य के दो पहलू हैं और उनमें से कोई सा भी पहलू सामने पड़ सकता है । महापुरुषों को अपने जीवन काल में शायद ही



आशाजनक सफलता मिल सकी हो । महात्मा ईसा ने चालीस वर्ष तक धर्म प्रचार किया और इस पूरे समय में उनके १२ शिष्य भी ऐसे बने कि उनमें से एक ने तो ईसा को पकड़वाने के लिए, उन्हें गिरफ्तार कराने के लिए पैसे ले लिए तथा उन्हें पकड़वा दिया और उन्हें सूली हो गयी । बाकी शिष्यों ने भी अन्य समय में ईसा का साथ छोड़ दिया । यदि ईसा अपने जीवन काल में इन असफलताओं या नाममात्र की सफलता को देखकर हतोत्साहित हो जाते तो ईसाई धर्म शायद ही आज संसार का प्रमुख धर्म हो पाता ।

किसी भी नए कार्य का विरोध होना स्वाभाविक है । कार्य की उपयोगिता परखने वालों का अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होता है । किसी को एक काम अच्छा लगता है तो किसी को वही बुरा । परंतु जिन्हें अपने स्वार्थ पर चोट पहुँचती दीखती है वे विरोध, निंदा, आलोचना तक उतर आते हैं । उस स्थिति में विरोध के समाधान का एक ही उपाय है कि उन पर कोई ध्यान न दिया जाय । यदि ध्यान दिया जाने लगा तो हम अपने लक्ष्य से भटक जाएँगे । जैसे कुछ कार्यकर्ता किसी गाँव में कोई स्कूल चलाने के लिए पहुँचे, इस तरह की तैयारियाँ भी कर ली गईं और स्कूल आरंभ भी हो गया । निःस्वार्थ भाव से आरंभ किए गए इस कार्य का प्रभाव गाँववासियों पर होना स्वाभाविक ही है । लोकसेवियों के बढ़ते हुए प्रभाव से कुछ व्यक्ति ईर्ष्या अनुभव कर उनका विरोध करने लगे, लोगों में उनके बारे में तरह-तरह की बातें फैलाईं या विरोध का कोई अन्य ढंग अपनाया । ऐसी दशा में यदि प्रतिशोध लेने का विचार किया जाने लगा तो स्वाभाविक ही पाठशाला चलने की ओर ध्यान कम होगा तथा उस कार्य में शक्ति भी कम लगने लगेगी । धीरे-धीरे सारा ध्यान, सारी शक्ति और सारा मनोयोग विरोधियों को परास्त करने में

ही लग जायगा और मूल उद्देश्य बहुत पीछे छूट जायगा ।

महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उधेड़बुन में लगे रहने पर सेवा की बात मन-मस्तिष्क से हट जाती है तथा पद, अधिकार और वर्चस्व की बात रह जाती है । फलस्वरूप लोक सेवा अपने समर्थक ढूँढ़ता है, उनके गुट बनाता है, दलबंदी करता है और तरह-तरह के षड़यंत्र रचता है ताकि उसका वर्चस्व बना रहे या बन सके और इसके लिए वह उचित-अनुचित के विवेक को छोड़कर षड़यंत्र व कुचक्र रचने में लग जाता है ।

यह सभी कृत्य खुले रूप में नहीं किए जाते । इनके लिए सिद्धांतों की आड़ ली जाती है, नैतिकता की दुहाई दी जाती है । प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने के लिए उसे अनैतिक और दोषी ठहराने का प्रयत्न किया जाता है ताकि अपना पक्ष नैतिक और उचित दिखे । परछिद्रान्वेषण की यह दृष्टि इतना विकृत रूप धारण कर लेती है कि उसे दूसरों के राई बराबर दोष पहाड़ बराबर दिखने लगते हैं तथा अपने में कितने ही दोष भरे हों उनकी ओर कोई उँगली उठाए यह भी सहन नहीं होता । नि:संदेह यह वृत्ति बैर भाव और ईर्ष्या, द्वेष को जन्म देती है । फिर लोक सेवी अपने मार्ग से एकदम विरत हुए बिना भी नहीं रहता । उदाहरण के लिए लोकसेवियों में इतना बैर, वैमनस्य उत्पन्न हुआ कि वे अपने शत्रु को विनष्ट हुआ ही देखना चाहते हैं । एक लोक सेवी लोगों को करुणा की, कष्ट पीड़ितों को उबारने की प्रेरणा देता है । लेकिन कभी प्रतिद्वंद्वी के मकान में आग लग जाती है तो उसके हृदय में आग बुझाने के लिए सहायता करने के स्थान पर यही भाव उठता है कि मेरे इस प्रतिद्वंद्वी का घर पूरी तरह ही जल जाय तो अच्छा, उसके परिवार की भी हानि हो तो अच्छा । इस दुर्भावना में लोक सेवी की सेवा-निष्ठा और उसके



चरित्र की सद्भावना परक विशेषता कहाँ रह जाती है ?

बहुत से लोगों के मन में सेवा की उमंग उठती है, पर वे यह सोचकर चुप रह जाते हैं कि अभी हम योग्य नहीं । जब हम पूर्णतः योग्य और सक्षम हो जाएँगे तब सेवा करेंगे । स्मरण रखा जाना चाहिए कि आज तक संसार में पूर्णतः योग्य न कोई हुआ है और न होगा । क्योंकि जो पूर्ण होता है वह भव बंधनों से ही मुक्त हो जाता है । उस पूर्ण पुरुष को इस संसार में आने की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके व्यक्तित्व में कहीं न कहीं कोई न कोई त्रुटि अवश्य रहती है । उन त्रुटियों के सुधार का प्रयत्न करते हुए भी वे सेवा के पथ पर निरंतर अग्रसर होते रहे हैं ।

यह सुविदित तथ्य है कि संसार में योग्यता, क्षमता, स्तर और परिस्थिति की दृष्टि से सभी समान नहीं, एक व्यक्ति की समता का दूसरा व्यक्तित्व भी नहीं खोजा जा सकता । योग्यता, क्षमता, स्तर और परिस्थिति की दृष्टि से न्यूनता अधिकता का अंतर प्रत्येक व्यक्ति में रहता है । अत्यधिक योग्यता का व्यक्ति कम योग्य का शिक्षण कर सकता है, अधिक सक्षम व्यक्ति कम क्षमता वाले की क्षमता बढ़ाने में सहायता कर सकता है । व्यावहारिक जीवन में भी जहाँ दूसरों को शिक्षित करने और सहायता देने की बात आती है, यही नियम काम करता है । प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने वाला अध्यापक अनिवार्य रूप से उच्च शिक्षित कहाँ होता है । ग्यारहवीं कक्षा पास करने वाले छात्र प्रायः प्राथमिक कक्षा में अध्यापक बना दिए जाते हैं । पाँचवी-छठवीं तक पढ़ी हुई माँ अपने बच्चों को अक्षर ज्ञान करा देती है । छोटे पहलवान अपने से छोटे पहलवान को पहलवानी का अभ्यास कराते हैं । यहाँ तक कि अगर कोई चोर भी सिखाना चाहे, समझाना

चाहे तो डाकू को मारकाट करने, हत्याएँ और अपहरण करने की बुराइयाँ तथा दोष समझा सकता है क्योंकि वह स्वयं का उदाहरण दे सकता है, चोरी करने में वैसी बुराइयाँ न होने की बात कह सकता है । कहने का अर्थ यह है कि कम बुराई वाला व्यक्ति अधिक बुराइयों वाले व्यक्ति को शिक्षा दे सकता है ।

लोक सेवी यदि अपने आसपास के वातावरण को देखे तो पता चल सकता है कि कहाँ किस स्तर की सेवा आवश्यक है और आवश्यकता को पूरा कर सकता है । सेवा से यहाँ इतना ही प्रयोजन है कि अपने से निम्न स्थिति के व्यक्तियों को ऊँचा उठाने, उनकी उन्नति के लिए, पतन को उत्थान में बदलने और पीड़ा का निवारण करने के लिए प्रयत्न करें ।

जहाँ मान-सम्मान की भूख जागती है वहाँ सेवा मार्ग से भटकाव आरंभ हो जाता है और लोक सेवी अपनी सेवा साधना से भी अधिक मान-सम्मान की चिंता करने लगता है । उसका सारा ध्यान प्रसिद्धि और प्रचार पर चला जाता है । अनेक संस्थाएँ जिनमें बहुत से पदाधिकारी होते हैं, चुनाव चक्कर और प्रोपेगैंडा की राजनीति की केन्द्र हो जाती हैं और उनका सेवा लक्ष्य समाप्त होता चला जाता है । अतएव जो लोकसेवा के प्रति निष्ठा रखते और उसे अपने जीवन धर्म में अंगीकार करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे किसी सार्वजनिक संस्था में रहते हुए पद और अधिकार से बचें । उत्तरदायित्वों से विमुख होने की बात यहाँ नहीं कहीं जा रही है । उत्तरदायी बनने के बाद स्वाभाविक ही अधिकार भी मिलेंगे, पर उन अधिकारों को अपने व्यक्तिगत प्रचार का साधन न बनाया जाय और न ही उनका प्रयोग किसी पर दबाव डालने या अपनी बात मनवाने के लिए किया जाय ।



जो वृत्ति आत्म प्रचार के लिए काम करती है उसी वृत्ति से प्रेरित होकर लोग ध्वंसात्मक रूप भी अपनाते हैं । इसका उद्देश्य भी लोगों पर अपना प्रभाव डालना तथा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना है । बहुत से श्रमिक संगठनों में श्रमिक हितों के लिए लड़ने वाले मजदूर नेता अपना प्रभाव सिद्ध करने के लिए मजदूरों को तरह-तरह से भड़काते हैं और बिना कारण ही हड़तालें करवा देते हैं, कोई महत्वपूर्ण कारण हो जिसके लिए अधिक लड़ाई लड़ी जाय तो बात भी समझ में आती है । पर ऐसा कोई कारण न होने पर भी ऊल-जलूल माँगों को लेकर हड़तालें करवा देना, फिर स्वयं पंच बनकर उनका फैसला करवाना या समझौते के लिए मध्यस्थ का काम करना किसी भी दृष्टि से सेवा स्तर का कार्य नहीं हो सकता । अपने वर्चस्व को बढ़ाने के लिए लोक सेवियों में निंदात्मक या आलोचनापरक प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं । निंदा आलोचना की नीति को अपने प्रचार का माध्यम बनाने वाली अनेक सामाजिक संस्थाएँ भी खड़ी हुई हैं, जिनका मूल आधार ही दूसरे के प्रति भ्रम पैदा करना होता है । भ्रम पैदा करने से कोई रचनात्मक उपलब्धि तो होती नहीं थोड़े बहुत रचनात्मक कार्य जो चल रहे होते हैं उनके प्रति भी लोगों में वितृष्णा के भाव उत्पन्न होते हैं ।

लोक सेवी को अपना दृष्टिकोण रचनात्मक रखना चाहिए । आत्म प्रचार के झमेले से दूर ऐसे रचनात्मक कार्यक्रमों को ही हाथ में लिया जाय जिनसे लोगों का वास्तव में हित होता हो । समाज की उल्लेखनीय सेवा करने में अब तक वे ही सफल हो सके हैं जिन्होंने रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया तथा आत्म प्रचार और निंदा-आलोचना से दूर रहकर सेवा करते रहे । इस तरह के अनेक उदाहरण हैं । हीरालाल शास्त्री का वनस्थली विद्यालय इसी प्रकार आरंभ हुआ ।

शास्त्री जी ने अपनी योजना न किसी अखबार में छपायी और न उसके लिए कहीं प्रचार करने गए । अपने पास जो उपलब्ध था उसी से ही उन्होंने विद्यापीठ का कार्य छोटे रूप में शुरू किया और धीरे-धीरे जन सहयोग भी मिलता गया । फलस्वरूप विद्यापीठ देश की प्रतिष्ठित संस्थाओं में से एक बन गया । हाथरस के कन्या गुरुकुल की स्थापना भी इसी प्रकार हुई । स्वामी केशवानंद अनपढ़ थे और चरवाहे का काम करते थे । उनमें सेवा बुद्धि जागी और शिक्षा के प्रसार को उन्होंने अपना जीवन ध्येय बना लिया । उन्हीं के रचनात्मक प्रयासों से साँगरिया विद्यापीठ उन्नत और समृद्ध रूप में खड़ा है । कुष्ठ रोगियों के उपचार और उनका सेवा के लिए बाबा साहब आम्टे ने कुष्ठ आश्रम खोला । साधारण व्यक्ति कोढ़ियों से दूर-दूर रहता है, उन्हें अपने पास भी नहीं आने देता । पर बाबा साहब आम्टे ने आत्म प्रचार से दूर रहकर चुपचाप अपना सेवा कार्य आरंभ किया और आज उनका कुष्ठ आश्रम देश में कुष्ठ रोगियों की सेवा का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है । झांसी का लक्ष्मी व्यायाम मंदिर भी इसी प्रकार की रचनात्मक सेवा का उदाहरण है । झांसी के पास जंगल में बहुत सी खाली जमीन पड़ी हुई थी । अन्ना जी ने स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए वहाँ एक व्यायाम मंदिर चलाने की बात सोची । इसका श्रीगणेश भी किया । बाद में कई अवरोध आए, पर अन्ना जी उनका दृढ़तापूर्वक सामना करते रहे । उनके प्रयासों के फलस्वरूप लक्ष्मी व्यायाम मंदिर आज समृद्ध और साधन संपन्न व्यायामशालाओं में से एक है ।

यह तथ्य भली-भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि सेवा धर्म के निर्वाह में बाह्य परिस्थितियों की तुलना में स्वयं की वृत्तियों से अधिक संघर्ष करना पड़ता है । शास्त्रकारों ने इसे ही अलंकारिक रूप



में साधना समर नाम दिया है । जो अपनी अंत: दुष्प्रवृत्तियों से लड़ते हुए अंत:करण परिष्कृत करने में सफल होता है, वस्तुत: वही सच्चा पुरुषार्थी है । बाधा-अवरोध तो किसी न किसी रूप में सदा बने रहेंगे । यदि अपनी प्रवृत्तियाँ एवं गतिविधियाँ श्रेष्ठ हैं तो बाहरी कठिनाइयाँ सेवा मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं उत्पन्न कर सकतीं ।

यदि उपरोक्त विवेचन को दृष्टिगत रखकर चला जाय तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति लोक सेवी की महत् भूमिका निभाता हुआ परमार्थ के साथ आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त न कर सके । मार्ग है तो कठिन, पर यह भी जानना चाहिए कि बिना अवरोध पार किए, भटकावों का सामना किए, परीक्षा की कसौटी पूरी नहीं होती । पतन निवारण एक बहुत बड़ा सेवा धर्म है । अपना उदाहरण प्रस्तुत करके लोक सेवी आदर्शों को व्यवहार में उतारने का प्रशिक्षण जो अन्यों को भी देते रह सकते हैं वे एक जीती-जागती, चलती-फिरती प्रयोगशाला का परिचय देते हैं । प्रज्ञा अभियान के युगशिल्पी इसी स्तर के बनें । इससे कम में वह शर्त पूरी नहीं होती जिसे पालन करने का वचन देकर वे मिशन से जुड़े हैं । ●

## प्रगति पथ के तीन प्रमुख अवरोध

जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के महत्वाकांक्षियों को प्रगति के तीन शत्रु - (१) आवेश, (२) असहनशीलता और (३) अदूरदर्शिता से सदा सावधान रहना चाहिए । जो श्रेयपंथी इन तीन शत्रुओं को साथ लेकर चलते हैं अथवा समय-असमय साथ हो लेने देते हैं वे कदाचित् ही अपने लक्ष्य पर पहुँच पाते हैं ।

उन्नति और विकास के लिए मनुष्य को योजनाबद्ध कार्यक्रम

बनाना पड़ता है । योजनाबद्ध कार्यक्रम को बनाए बिना जो यों ही अस्त-व्यस्त गति से चल पड़ते हैं उनकी यात्रा निरापद अथवा पूरी होगी इसमें संदेह किया जा सकता है । हमें क्या पाना है अथवा कहाँ पहुँचना है-इस बात को जाने बिना गति की दिशा निर्धारित नहीं की जा सकती और जिस गति की दिशा ही अज्ञात है उसका कोई गंतव्य हो ही नहीं सकता ।

गंतव्य और उसके अनुरूप दिशा का निर्णय हो जाने पर साधन, संबल तथा शक्ति का संचय करना पड़ेगा और यह समझना होगा कि अपने उपलब्ध साधनों का किस प्रकार प्रयोग किया जाये जिससे कि वे लक्ष्य की दिशा में अधिक से अधिक उपयोगी हो सकें । साधन तथा संबल संचय हो जाने पर दृढ़तापूर्वक कदम-कदम निर्धारित पथ पर धैर्यपूर्वक चलना होगा तब कहीं अपने गंतव्य और लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है । जिसके लिए इस प्रकार की सुनियोजित योजना, क्रमबद्धता तथा संतुलन की आवश्यकता है उस लक्ष्य की सिद्धि भला यों ही सोचे-समझे बिना अस्त-व्यस्त गति से चल पड़ने से किस प्रकार हो सकती है ?

मनुष्य का आवेश इस योजनाबद्ध कार्यक्रम में बाधक होता है । आवेश एक प्रकार का उन्माद है, जिसका दौरा किसी समय भी पड़ सकता है । जिसका मस्तिष्क आवेश के दोष से घिरा रहता है वह क्षण-क्षण पर उत्तेजित हो उठता है । उसमें इतना हल्कापन आ जाता है कि किसी बात पर कुछ देर भी स्थिर रहकर सोच नहीं सकता । किसी लक्ष्य के लिए सुनियोजित कार्यक्रम बनाने के लिए बौद्धिक परिश्रम की आवश्यकता होती है । आवेश प्रधान मस्तिष्क में उसका हो सकना कठिन होता है । आवेश के दोष वाला व्यक्ति जरा-सा सोचने पर थक जाता है । उसे एक उलझन तथा अरुचि अनुभव होने



लगती है जिससे वह या तो यह सोचना ही छोड़ देता है अथवा अपूर्ण विचारों के बीच ही निर्णय कर डालता है, जिसका फल असफलता के सिवाय और क्या हो सकता है ।

आवेश प्रधान व्यक्ति का हर काम उतावली से भरा होता है । वह अपने कामों को आवश्यक धैर्य तथा संतुलन का दाय भाग नहीं दे पाता । समय से पूर्व ही फल की आकांक्षा करने पर जब वह पूरी नहीं होती तब उत्तेजित होकर खीझ उठता है । तब वह या तो अपने कर्तव्य कर्म से चिढ़ने लगता है अथवा समाज को दोषी मानकर द्वेष करने लगता है और बदले में अपने विरोधी पैदा कर लेता है ।

आवेश प्रधान व्यक्ति की बेल कभी सिरे नहीं चढ़ती । उसकी अस्त-व्यस्त गति उसके पैरों को उलझाती रहती है । उसके काम बिगड़ते अथवा कुरूप होते रहते हैं, जिससे उसे एक दिन स्वयं अपने से अरुचि हो सकती है और तब किसी ऊँचे लक्ष्य को पाना तो क्या सामान्य जीवन भी खिन्नता से भर जाता है ।

आवेश निश्चय ही एक मानसिक रोग है, जिसका उपचार धैर्य, संतुलन तथा स्थिरता ही है । यदि आप में आवेश की दुर्बलता है तो पहले अभ्यास एवं प्रयत्नपूर्वक उसे धैर्य, संतुलन तथा स्थैर्य्य से स्थानापन्न कर लीजिए । तब शांतिपूर्वक अपना लक्ष्य निर्धारित करिए, दिशा का निर्णय करिए और सोचे हुए सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार गंतव्य की ओर कदम-कदम बढ़िए, अवश्य ही आप अपने उद्योग में कृतकृत्य हो जाएँगे ।

असहनशील व्यक्ति मार्ग की उन बाधाओं तथा विरोधों से उस प्रकार नहीं निपट सकता जिस प्रकार प्रगति के महत्वाकांक्षी के लिए योग्य है । विरोधों का विरोध करना होता है । अवरोधों को धकेलना होता है । किन्तु उनका विरोध करने और धकेलने का तरीका ऐसा

होना चाहिए जिससे कि उल्टा विरोध और न बढ़ने लगे । क्या ऐसा शांत एवं बुद्धिमत्तापूर्ण तरीका असहनशील व्यक्ति से संभव हो सकता है ? असहनशीलता क्रोध को जन्म देती है और क्रोध विरोध को घटाता नहीं बल्कि बढ़ाता है ।

जिसमें सहनशीलता का अभाव है वह अपनी आलोचना, निंदा अथवा अप्रिय इंगित को एक क्षण भी सहन नहीं कर सकता । वह तत्काल उत्तेजित होकर कटु से कटु प्रत्यालोचना करने पर उतर आयेगा । एक सौ सुनाएगा और वही काम करने लगेगा जो समाज के निर्लज्ज, निरर्थक और निकम्मे व्यक्ति किया करते हैं । क्या इस प्रकार की रीति-नीति प्रगति पथ पर आगे बढ़ने में सहायक हो सकती है ? आलोचना सुनते अथवा किसी के विरोध में खड़े होते ही असहनशील व्यक्ति तत्काल मुकाबले पर उतर आता है । वह यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि आखिर यह लोग क्यों तो उसकी आलोचना करते हैं और क्यों विरोध में खड़े हो रहे हैं । संभव है हमारी गतिविधि में कोई ऐसा तत्व समाहित हो रहा हो जो इन लोगों की प्रगति में बाधक हो अथवा इनको कष्ट पहुँचा रहा हो । कोई भी आदमी अपने में पूर्ण नहीं होता । उससे गलती भी हो सकती है । सहनशील व्यक्ति शांत मस्तिष्क से आलोचना तथा विरोध की विवेचना करके यह समझने का प्रयास करता है कि क्या इन लोगों के विरोध का कारण मेरी कोई अवांछित गतिविधि तो नहीं है ? और यदि ऐसा होता है तो वह तत्काल सुधार को स्थान देता है क्योंकि सहनशील व्यक्ति हठी अथवा दुराग्रही नहीं होता । असहनशील व्यक्ति से इस सदाशयता की आशा नहीं की जा सकती जिसका परिणाम अधिकाधिक विरोध के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

उन्नति अथवा प्रगति के पथ पर बाधाओं की भाँति



असफलताओं का आना भी सहज संभाव्य है । यह किसी प्रकार भी संभव नहीं कि पहले कदम से लेकर अंतिम कदम तक सफलता ही सफलता मिलती रहे । असफलताएँ आती हैं और जरूर आती हैं । असहनशील व्यक्ति बाधा और विरोध से उत्पन्न होने वाली असफलता की संभावना से ही विचलित होकर अपना मानसिक संतुलन खोकर उत्तेजना के वशीभूत हो जाता है । तब यह आशा करना व्यर्थ है कि वह साक्षात् असफलता को स्वीकार कर सकेगा । असफलता का स्वागत करने के लिए उद्यत न रहने वाला व्यक्ति जीवन में कभी सफलता का स्वागत करने का अवसर पा सकेगा यह असंभव नहीं तो अस्वाभाविक अवश्य है । सफलता की ओर जाने वाला मार्ग असफलताओं के बीच होकर ही जाता है ।

असफलता की अप्रियता न सह सकने के कारण असहनशील व्यक्ति को निराश एवं हताश होते देर न लगेगी । यह दोनों दुर्बलताएँ ऐसी शृंखला हैं जो मनुष्य की गति को अवरुद्ध कर जहाँ का तहाँ रोक दिया करती हैं । बाधा, विरोध, कठिनाई तथा असफलता प्रगति पथ पर चलने वाले के लिए काँटों का उपहार है जिसको स्वीकार करना उसका कर्तव्य है-ऐसा समझ सकना असहनशीलता के वश की बात नहीं होती । असहनशील व्यक्ति की वृत्ति इस विषय में कुछ विपरीत सी होती है । वह असफलता अथवा कठिनाई को स्वीकार करने में तो आनाकानी नहीं करता है किन्तु हार मान कर हताश जरूर होता है ।

सहनशीलता का गुण मनुष्य को हर कठिनाई, कटुता तथा अप्रियता को सहने योग्य बनाए रखता है । असफलता के आने पर सहनशील के सोचने का ढंग असहनशील से भिन्न होता है । वह सोचता है कि आज यदि सफलता का मुख देखने को मिला है तो

कल अवश्य ही सफलता के दर्शन होंगे । उसके पास निराशा अथवा निरुत्साह के भाव भटकने भी नहीं पाते । वह कठिनाइयों से शक्ति, विरोध से साहस और असफलता से शिक्षा लेकर दूने वेग से आगे बढ़ा करता है । असहनशील व्यक्ति की तरह खिन्न होकर हानि पर बैठा-बैठा शोक नहीं मनाया करता है । ऐसे ही साहसी व्यक्ति हजार कठिनाइयों और कटु से कटु असफलता को सहन कर अपने गंतव्य पर पहुँच कर ही दम लेते हैं । श्रेय पथ पर चलने से पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह असहनशीलता का मानसिक हल्कापन दूर कर अपने अंदर गंभीर दृढ़ता तथा सहनशीलता का विकास करता चले और तब उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने से संसार की कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती ।

अदूरदर्शी व्यक्ति कितना ही धैर्यवान्, साहसी तथा पुरुषार्थी क्यों न हो अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता । उसकी संकुचित तथा सीमित दृष्टि पैर तले को देख सकने के सिवाय दो कदम आगे का भी नहीं देख सकती जबकि महत्वाकांक्षी को मूर्तिमान करने के लिए दूर, वर्षों दूर भविष्य के गर्त तक में झाँकना और अनागत का स्वरूप अनुमान करना पड़ता है । जो नाक के आगे देखने की क्षमता ही नहीं रखता वह आज से लेकर आने वाली परिस्थितियों तथा वासनाओं का दिग्दर्शन किस प्रकार कर सकता है ? किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने के लिए वर्तमान परिस्थितियों का उपयोग इस प्रकार करना पड़ता है जिससे कि भविष्य द्वारा संवाहित परिस्थितियों पर अनुकूल प्रभाव पड़े, यदि उनमें कोई प्रतिकूलता लिपटी चली आ रही हो तो वह दूर होकर अलग गिर जाए और वह अनागत आकर मनोनुकूल वर्तमान में बदलता रहे । इस प्रकार की दूर, व्यापक तथा सूक्ष्मदर्शिता का काम संकीर्ण बुद्धि वाले से हो सकना संभव नहीं ।



दूरदर्शी ही तो यह देख सकता है कि उसका लक्ष्य किस दिशा में कितनी दूर और किन-किन भिन्न तथा अभिन्न परिस्थितियों से घिरा हुआ वर्तमान है और उस तक किस गति से कितने समय में पहुँचा जा सकता है । जो आज के वर्तमान में बरतता हुआ अनागत भविष्य के बर्ताव की रूपरेखा नहीं समझ सकता उस अदूरदर्शी को महत्वाकांक्षियों के चमत्कार से आकर्षित न होना चाहिए क्योंकि उसे इस विषय में असफलता तथा ग्लानि के अतिरिक्त कुछ भी हाथ न लगेगा ।

अदूरदर्शी व्यक्ति तात्कालिक लाभ तथा सफलता पर ही ध्यान केन्द्रित रखता है । वह उस लाभ का परिणाम समझने में असमर्थ रहता है । यह अनुमान लगा सकना उसके वश के बाहर की बात होती है कि आज का यह लाभ जिसे पकड़कर वह हर्षित अथवा संतुष्ट हो रहा है भविष्य के किसी बड़े लाभ पर बुरा प्रभाव डालेगा । उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता कि आज के इस लाभ का त्याग कल ऊंची सफलता में फलीभूत हो सकता है । दूरदर्शिता की कमी किसी भी महत्वाकांक्षी के लिए सबसे बड़ी है और हानिकारक भी है । इसको दूर कर ही श्रेय पथ पर पैर रखना बुद्धिमानी माना जाएगा ।

यदि आप महत्वाकांक्षी हैं, जीवन में उन्नति एवं विकास का कोई ऊँचा लक्ष्य पाना चाहते हैं तो प्रगति पथ के इन तीन शत्रुओं-आवेश, असहनशीलता तथा अदूरदर्शिता यदि आप में हों तो निकाल डालिए और प्रतिक्षण सावधान रहकर श्रेय पथ पर आगे बढ़िए, आपकी आकांक्षाएँ सफल होंगी । आपका उद्योग-उद्यम तथा परिश्रम और पुरुषार्थ फल लाएगा । ●

# लोक सेवा आत्म-विज्ञापन का आडंबर न बनने पाए

समाज के पिछड़े और समस्याग्रस्त लोगों को आगे लाने और उनकी कठिनाइयों को सुलझाने का नाम समाज सेवा है । यह एक सेवा यज्ञ है और जितना ही यज्ञ भावना से किया जायगा, बदले में आत्म-संतोष, आत्म-तृप्ति और लोक श्रद्धा मिलेगी, जो सस्ती वाहवाही, झूठे सुख और थोथी श्रद्धा से हजार गुना कीमती है ।

सभी मनुष्यों के विकास और उन्नति की गति एक समान नहीं है । कोई व्यक्ति वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए चाँद पर चला जाता है तो कोई व्यक्ति गाँव के सिंदूर लगे देवी-देवताओं को पूजकर, उनसे रोग निवारण की प्रार्थना को परम पुरुषार्थ समझता है । एक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से हजारों रुपये अपने शौक-मौज में खर्च कर सकता है वहीं दूसरे व्यक्ति को अगली खुराक के लिए भी तपती हुई देह से जी तोड़ मेहनत करने के लिए मजबूर होना पड़ता है । एक व्यक्ति अच्छी सोसायटी और शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि से फॉरेन रिटर्न या महापंडित हो सकता है तो दूसरे व्यक्ति को अपने बेटे की नौकरी लग जाने का तार भी अधकचरे पढ़े-लिखे व्यक्ति से पढ़वाना पड़ता है । अधकचरी अंग्रेजी जानने वाला एक व्यक्ति अपनी गलती से नौकरी पर पहुँच जाने का समाचार मृत्यु की सूचना कहकर पढ़ता है और सुनने वाला अपने लाड़ले की भेजी हुई खुशखबरी को सुनकर हर्षोत्फुल्लित होने के स्थान पर शोकाकुल हो उठता है । शिक्षा के अभाव या अशिक्षा की व्यापकता का यह दूसरा छोर है ।

इसी प्रकार रहन-सहन की दृष्टि से एक व्यक्ति ऊँचे तबके का है तो दूसरे को रहने के लिए झोंपड़ी और पहनने को साधारण कपड़े



भी मुश्किल से मिल पाते हैं । असमानता या पिछड़ेपन की निम्नतर अवस्था और उन्नति का चरम शिखर हम मानव समाज में यत्र-तत्र बड़ी आसानी से देख सकते हैं । यों सबकी स्थिति, सामर्थ्य, परिवेश और परिस्थितियों को देखते हुए प्रत्येक व्यक्ति समान हो भी नहीं सकता । ईश्वर की सृष्टि में एक कंकड़ भी दूसरे कंकड़ सरीखा नहीं होता । फिर मनुष्य तो कर्मशील है, उसमें एकरूपता कहाँ से हो सकती है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आदमी-आदमी में राई और पहाड़ की विषमता हो । एक छात्र मेहनती है, उसके अभिभावक समर्थ हैं, तो यह उचित है कि वह छात्र अच्छी से अच्छी और ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करे । परंतु परिस्थितियाँ कम से कम ऐसी तो न हों कि कोई साधनहीन पिता चाहकर भी या आवश्यक समझने पर भी अपनी सुयोग्य संतान को पढ़ा न सके ।

राई और पहाड़ के इस अंतर को पाटने के लिए, पिछड़ेपन को दूर करने के लिए और उन समस्याओं को सुलझाने के लिए जो कि जीते जी मनुष्य को नरक की यातना में झुलसा उठती हैं, करुणा की आवश्यकता है । करुणा अर्थात् जो अपने से पीछे हैं उन्हें आगे लाने की कसक । अर्थात् भ्रातृ भाव से छोटे भाइयों के साथ सहयोग कर उन्हें प्रगति की दौड़ में सम्मिलित करने के प्रयास ।

यहाँ करुणा से आशय दया का नहीं है । दया का शाब्दिक अर्थ तो होता है कि आप अपने से कमजोर व्यक्ति की सहायता कर उस पर कृपा कर रहे हैं । करुणा में कृपा का भाव या ऐसा विचार जरा भी नहीं होता कि मैंने अमुक व्यक्ति की सहायता कर बहुत बड़ा काम कर दिया । करुणा एक कर्तव्यनिष्ठा से प्रेरित सहयोग और सेवा की भावना है । जिस प्रकार एक परिवार में कई सदस्य रहते हैं । किसी सदस्य के बीमार हो जाने पर दूसरे स्वस्थ सदस्य भाग-

दौड़कर उसकी सेवा-सुश्रूषा करते हैं । उसका इलाज करवाते हैं, दवाई देते हैं, डाक्टर को बुलाते हैं । अर्थात् अपने बस का सब कुछ कर लेते हैं और जब वह स्वस्थ हो जाता है तो उससे किसी प्रकार के प्रत्युपकार नहीं मांगते, न ही इस बात का विज्ञापन करते हैं कि हमने अपने भाई की सेवा-सुश्रूषा बड़ी भाग-दौड़ और हायतौबा मचाकर की । न ही वे माँग करते हैं कि इस सेवा के बदले में हमें पारितोषिक स्वरूप यह मिलना चाहिए अथवा वह मिलना चाहिए ।

बिना प्रत्युपकार किए और बिना प्रतिदान माँगे किया गया सहयोग सेवा है । न कि हम अपने भाई की सेवा-सुश्रूषा करेंगे तो बदले में वह हमारा गुलाम हो जायगा । समाज सेवा की साधना इसी स्तर की भावना ही तो कही जा सकती है अन्यथा वह किसी व्यापार व्यवसाय से कम नहीं होगी । आध्यात्मिक विचारधारा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति यह अच्छी तरह जानते हैं कि बिना कुछ माँगे प्रभु की की गई आराधना ही सच्ची आराधना है । अन्यथा बेटा, नौकरी, लड़की की शादी, नया मकान और लाटरी खुल जाने की अपेक्षा रखते हुए किया गया भजन-पूजन भजन नहीं हो सकता है, कुछ और भले ही हो । समाज सेवा को भी ईश्वर भक्ति के समकक्ष रखा जा सकता है और एक मायने में तो यह प्रचलित ईश्वर भक्ति के ढंग से ऊँचे स्तर की ही हैं । ईश्वर भक्ति के नाम पर प्रतिमा-पूजन कर प्रतीक उपासना करने वाले भक्त तो कई मिल जाएँगे पर नर में ही नारायणत्व का साक्षात्कार करके ईश्वर के व्यक्त स्वरूप की उपासना करने की निष्ठा ऊँचे स्तर की है और ऐसे लोग दुर्लभता से मिलते हैं ।

सब प्राणियों में भगवद्भाव रखना कठिन हो सकता है । क्योंकि यह अध्यात्म की उच्च कक्षा है । लेकिन हम इतना तो कर ही सकते



हैं कि जिसकी भी सेवा करें उसके प्रति सद्भाव या कर्तव्य निष्ठा का दृष्टिकोण रखें । लेकिन इस युग में जिस प्रकार कई आध्यात्मिक सिद्धांतों का अनर्थ किया गया है और आदर्शवादिता के नाम पर गलत रीति-नीति अपनाई गई है, वही अनर्थ समाज सेवा के साथ भी हुआ है ।

ध्यान रहे कि समाज सेवा एक पवित्र यज्ञ है । लेकिन जिस तरह हमने कई आध्यात्मिक आदर्शों के साथ अनाचार किया और अपने हीन स्तर के कारण उनके गौरव को घटाया, उसी प्रकार समाज सेवा के साथ-साथ स्वयं को भी समाज सेवी कहलाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं ।

इस संबंध में भी कुछ विवेचन की आवश्यकता है । जैसे कि समाज सेवा का स्पष्ट अर्थ अपने से पिछड़ों को आगे बढ़ाना है । वहाँ पिछड़ों को आगे बढ़ाने के ईमानदार प्रयासों के स्थान पर इस अर्थ को विज्ञापित करने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ती जा रही है । लोग समाज सेवा करने के स्थान पर समाज सेवी कहलाना अधिक पसंद करते हैं । इसलिए इस शब्द के साथ जुड़ी हुई शर्तों को पूरा करने की जगह महत्व इस बात को दिया जाता है कि कोई हमें साधना करते हुए देख रहा है अथवा नहीं । ध्यान इस पर नहीं रहता कि हमारी साधना कैसी चल रही है वरन् इस बात का ध्यान रहता है कि लोग देखते हैं अथवा नहीं । यही कारण है कि लोग इस दिशा में नैष्ठिक प्रयास करने के स्थान पर अपने मुँह से अपनी बहादुरी और अपने पराक्रम का परिचय ज्यादा देते हैं ।

अपने प्रयासों से किसी का भला हुआ है अथवा नहीं, या हमने इस तरह के प्रयास किए भी हैं अथवा नहीं यह बात गौण हो जाती है और प्रधानता मिलती है अपने तमगे को चमकाने की ।

सच्चाई तो यह है कि निष्ठावान समाज सेवक आत्म प्रचार और अपनी सेवाओं का ढोल पीटने के स्थान पर मूक भाव से ही अहर्निश जन सेवा में लगे रहते हैं । चाहिए भी यही कि इस विशुद्ध साधना को पाखंड के रूप में नहीं साधना के रूप में ही अपनाया जाय । इसलिए शुरूआत अपने से ही करनी चाहिए । इसका अर्थ है कि जिन आदर्शों की स्थापना हम समाज में होते हुए देखना चाहते हैं उन आदर्शों को पहले हम अपने में उतारें और कथनी से नहीं करनी के उदाहरण से प्रस्तुत करें । ●

## युगशिल्पी लोभ, मोह, अहंता की बेड़ियों से बाहर निकलें

स्कूली पढ़ाई, कारीगरी, तिजारत, दलाली, बाजीगरी आदि व्यवहार कौशल से संबंधित बातें भी उन विषयों के निष्णात व्यक्ति ही ठीक प्रकार सिखा पाते हैं, फिर आदर्शवादी दृष्टिकोण, चिंतन, चरित्र एवं प्रचलन परिवर्तन करने जैसे कठिन काम दूसरों से करा लेने के लिए और भी भारी-भरकम आदमी चाहिए । यह काम उथले बचकाने लोगों का नहीं है । वे घुसपैठ करेंगे तो काम बिगाड़ेंगे, अश्रद्धा उत्पन्न करेंगे और असलियत खुलने पर लात खाते, औंधे मुँह गिरते-पड़ते उलटे पैरों भागेंगे । ऐसी विदूषकों जैसी विडंबना रचने की अपेक्षा उस क्षेत्र में न घुसना ही ठीक है । समर्थक और सहयोगी बनकर भी काम चलता है । मार्गदर्शक बनना हो तो नेतृत्व का कौशल नहीं चरित्र चाहिए । प्राचीनकाल में लोक मानस के परिष्कार का महान कार्य जो लोग हाथ में लेते थे वे कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व ब्राह्मणों जैसी संयमशीलता और साधु जैसी उदार आत्मीयता



का अभ्यास करते थे । इस परीक्षा में वे जितनी ऊँची कक्षा उत्तीर्ण करते थे उसी अनुपात से उनकी सेवा साधना सफल होती थी । यदि सच्चे मन से उच्चस्तरीय दृष्टिकोण लेकर सेवाधर्म अपनाया जाय तो उसका परिणाम लोकमंगल से भी अधिक आत्मोत्कर्ष के रूप में उपलब्ध होता है । इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रज्ञा परिजनों को युगशिल्पी की भूमिका निभाने के लिए अग्रसर होते समय इस बात को गिरह बाँधकर रखना है कि उन्हें स्तर की, व्यक्तित्व की दृष्टि से सामान्य लोगों की तुलना में कहीं ऊँचा उठकर रहना है ।

इसके लिए क्या करना होगा ? इस संबंध में प्रत्यक्ष कर्तृत्व उतना नहीं है जितना कि दृष्टिकोण में परिवर्तन करने का प्रबल अभ्यास अपनाना । सर्वविदित है कि लोभ-मोह के भवबंधन आदर्शवादिता के, आध्यात्मिकता के मार्ग पर चलने वाले के लिए हथकड़ी-बेड़ी जैसे अवरोध उत्पन्न करते हैं । लालची, संग्रही, विलासी व्यक्ति को लोभ-लिप्सा इस कदर जकड़े रहती है कि उसे परमार्थ में कोई रस ही नहीं आता । अपनी तराजू पर अपने बाँटों से तोलने पर उसे स्वार्थ वजनदार प्रतीत होता है और परमार्थ हलका । इसलिए लालच में राई-रत्ती कमी पड़ते ही वह परमार्थ से हाथ खींच लेता है और कुछ आडंबर करता भी है तो उतना ही जिससे कम खर्च में लोकसेवी पुण्यात्मा की अधिक ख्याति खरीदी जा सके । इसमें भी वे तोलते रहते हैं कि कितना गँवाया और कितना कमाया ।

दूसरा अवरोध है-व्यामोह । शरीर और परिवार के साथ अत्यधिक ममता जोड़ने वाले उन्हें प्रसन्न रखने के लिए उचित-अनुचित कुछ भी करते रहते हैं । उन्हें यह छोटी परिधि लोक परलोक सभी से बढ़कर प्रतीत होती है और उसी के निमित्त कोल्हू की तरह पिलते आग की तरह जलते और बर्फ की तरह पिघलते

रहते हैं । परिवार का उत्तरदायित्व निभाना, परिजनों के प्रति कर्तव्य पालन करना एक बात है और उन्हें सुविधाओं से लाद-लादकर अनुचित दुलार से व्यक्तित्व की दृष्टि से हेय-हीन बना देना सर्वथा दूसरी । मोहग्रस्त लोग दूसरी को अपनाते हैं और पहली की ओर से आँखें बंद किए रहते हैं । संबद्ध व्यक्तियों को सुसंस्कारी और स्वावलंबी बनाने का लक्ष्य रखा जाय । इसके लिए कभी रोका-झिड़का जाय तो वह उन पर अशर्फियाँ लुटाते रहने की तुलना में कहीं अधिक हित चिंतन और कहीं अच्छा लाड़-दुलार है । पर कहे कौन किससे ? ज्ञान, वैराग्य की कथा कहते रहने वाले ही जब श्रोता भक्तजनों से भी अधिक गए-गुजरे सिद्ध होते हों तो 'सत्य वचन महाराज' की विडंबना ही सिर हिलाती रहेगी ।

परिवार पोषण किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए । क्योंकि नई दृष्टि से देखने से इस परिकर के कितने ही सदस्य ऐसे होते हैं जिनमें आर्थिक स्वावलंबन की ही नहीं दूसरों को सहारा देने की भी क्षमता है । किन्तु उन्हें मोहवश अथवा 'नाक कटने' के बहाने अपंग-अपाहिज बनाकर रखा गया है । एक कमाऊ व्यक्ति ही मरता-खपता रहता है । दूसरे समर्थ होते हुए भी असमर्थों की बिरादरी में आलसी-प्रमादी बने बैठे रहते हैं । इस प्रकार फिजूलखर्ची की आदतें जब अभ्यास में आ जाती हैं तो खर्च का ढोल इतना भारी हो जाता है कि उसे भी परितोषण की संज्ञा मिलती है । वस्तुतः यह होता परिवार तोषण भर है । पोषण सरल है, तोषण अति कठिन । इसके उपरांत उस अनावश्यक ममता का नंबर आता है जो जबरदस्ती की सहायता के रूप में दृष्टिगोचर होती है । पुत्र वधू की गोद से छीन-छीन कर पोते-पोतियों को कंधे पर लादे फिरने वाले बुड्ढों की कमी नहीं । कमाऊ लड़कों के गुलछर्रे उड़ाने



में कोई कमी न रहने पर भी बुड्ढा जब उन्हीं के हाथ में पेंशन थमाता जाता है तो उसकी 'दयालुता' देखते ही बनती है । जीवन भर की कमाई का बँटवारा जब समर्थ बेटों की हिस्सेदारी के रूप में कर दिया जाता है तो प्रतीत होता है कि घिनौना व्यामोह किस प्रकार औचित्य एवं प्रचलन का लबादा ओढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध करता है ।

इस चक्रव्यूह के कुछ थोड़े से घेरे ही यहाँ उजागर किए गए हैं । ऐसे-ऐसे और भी अनेक हैं जिनमें आए दिन बच्चे जनने, उस पर खुशी मनाने और सिर पर पर्वतों जैसे बोझ बढ़ाते चलने की भी एक बात सम्मिलित की जा सकती है । इस मोहग्रस्तता को परमार्थ पथ पर अड़ा हुआ भारी चट्टान कह सकते हैं । लोभ को प्रथम नंबर दिया जाता है, मोह को दूसरा । पर अभी यह तय किया जाना है कि इनमें से कौन प्रथम और कौन द्वितीय है । वस्तुतः यह रावण अहिरावण जैसे सगे भाई ही प्रतीत होते हैं ।

आत्मकल्याण और लोककल्याण की साधना में ऐसा कुछ नहीं जिसके लिए शरीर निर्वाह एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व निभाने में कोई बाधा पड़ती हो । मात्र लोभ और मोह का मद्यपों जैसा अतिवाद ही एकमात्र अवरोध है जो वस्तुतः तिनके जैसा हलका होते हुए भी पर्वत जैसा भारी बनकर दिग्भ्रांतों के मनःक्षेत्र पर भूत-पिशाच की तरह चढ़ बैठता है और भली-चंगी परिस्थिति होते हुए भी नारकीय उत्पीड़नों की तरह निरंतर संत्रस्त करता रहता है । त्याग, वैराग्य का जब प्रश्न आता है तो साहसी लोग इन्हें छोड़कर किसी प्रकार संतुलन बिठा लेते हैं और परमार्थ पथ पर चलने लगते हैं । प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होने वाला त्याग, वैराग्य यही है । ऐसे लोग आत्मसाधना एवं लोकसाधना में संलग्न हुए दीख पड़ते हैं

और थोड़ी कठिनाई सहने के बाद लोक सम्मान का लाभ हाथों-हाथ प्राप्त करते हैं । श्रेय साधकों की परीक्षा का यह पहला प्रश्नपत्र उत्तीर्ण करना बहुत कठिन नहीं है । भारत में ६० लाख साधु-बाबा प्रायः इस पर्चे को हल कर चुके होते हैं । प्रत्यक्षतः लोभ-मोह से विरत 'वैरागी' कहने में कोई असमंजस प्रतीत नहीं होता ।

किन्तु बात इतनी छोटी है नहीं । इस मार्ग में एक और बड़ा अवरोध 'अहंता' का है । यह परोक्ष होती है । न अपनी पकड़ में आती हैं और न दूसरों की परख में । इसलिए उसकी उखाड़-पछाड़ भी नहीं होती । फलतः मजे में अपने कोतर में बैठी पोषण पाती जोंक की तरह मोटी होती रहती है । इसकी विनाशलीला इतनी बड़ी है जिसकी तुलना में लोभ-मोह से होने वाली हानि को नगण्य जितना ठहराया जा सकता है ।

अहंता बड़प्पन पाने की आकांक्षा को कहते हैं । दूसरों की तुलना में अपने को अधिक महत्व, गौरव, श्रेय, पद, सम्मान मिलना चाहिए । यही है अहंता की आकांक्षा । इस जादूगरनी द्वारा लोगों को चित्र-विचित्र विडंबनाएँ रचते देखा जा सकता है । केश, वस्त्र, आभूषण, सौंदर्य प्रसाधनों की इन दिनों धूम है । फैशन के नाम पर कितना धन और कितना समय नष्ट होता है उसे शरीर सज्जा में रुचि रखने वाले सभी जानते हैं । उस मँहगे जंजाल को इसलिए रचना पड़ता है कि अहंता अपने को सुंदर, युवा, आकर्षक, सभ्य, अमीर सिद्ध करने के लिए इस लबादे को ओढ़ कर वस्तुस्थिति से भिन्न प्रकार का प्रदर्शन करने को बाधित करती है । इसके बाद ठाट-बाट का नंबर आता है । इसमें अमीरी का प्रदर्शन है । निवास, फर्नीचर, वाहन, नौकर तथा विलासिता के उपकरणों का सरंजाम जुटाने तथा



रख-रखाव में इतना धन तथा मनोयोग लगता है जो वास्तविक आवश्यकता की तुलना में अनेक गुना मँहगा होता है । बात-बात में फिजूलखर्ची उस समय की जाती है जब उसे लोग देखें और अनुमान लगाएँ कि यह व्यक्ति धन कुबेर है और अनावश्यक खर्चने से भी इसे कोई कमी नहीं पड़ती । जो वस्तुएँ अच्छी सस्ती टिकाऊ है उन्हें न खरीदकर ऐसे लोग वैसी चीजें खरीदते हैं जो मूल्य में बहुत अधिक हों । ऐसा इसलिए नहीं किया जाता कि उस मँहगाई की कोई उपयोगिता है वरन् बात इतनी भर होती है कि लोग उन्हें अमीर समझें, बड़प्पन दें और अपने को उनकी तुलना में हीन समझें । जवाहरात के जेवरों में, शादियों की खर्चीली धूम में मात्र इस अहंता का अट्टहास ही देखा जाता है । बड़प्पन पाने की मृगतृष्णा में लोग कितने-कितने पाखंड रचाने, धन को पानी की तरह बहाने के उपरांत आवश्यक प्रयोजनों में किस प्रकार कटौती करते हैं इसे देखकर कोई सूक्ष्मदर्शी आश्चर्यचकित ही रह सकता है । असलियत का अनुमान सहज ही लगा लिया जाता है फिर भी अहंता का उन्माद विडंबनाएँ रचने से बाज आता नहीं हैं ।

यह तो सामान्य लोगों की बात हुई । अब प्रसंग उन विशिष्ट लोगों का आता है जो कि आदर्शवादी, त्यागी, अध्यात्मवादी, योगी, लोकसेवी आदि के रूप में प्रख्यात हैं । विश्लेषण करने पर इनके भीतर भी अहंता चोर-दरवाजे से घुसी और तानाशाह की तरह सिंहासनारूढ़ बनी बैठी दिखाई पड़ती है । संतों के अखाड़े, धर्म, संप्रदाय, संस्था, संगठन बड़ों की इसी प्रतिस्पर्धा में कलह केन्द्र बने रहते हैं । उनके संचालकों में से कौन बड़ा कहलाए ? एक ही संस्था के सदस्य, एक ही लक्ष्य की दुहाई देने वाले आखिर इस कदर लड़ते क्यों हैं ? एक दूसरे को नीचा दिखाने में निरत क्यों हैं ?

इसका वास्तविक कारण सामान्य लोगों की समझ से बाहर होता है । उन्हें तो कुछ भी कहकर बहका दिया जाता है । वास्तविकता इतनी भर होती है कि ये येन-केन प्रकारेण अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहते हैं । दूसरा जब आड़े आता है तो मुहल्ले के कुत्तों की तरह अकारण एक दूसरे पर टूट पड़ते हैं । संगठनों के सर्वनाश में एकमात्र नहीं तो सर्वप्रधान कारण इस अहंता सूर्पणखा को ही माना जायगा । मनोमालिन्य और विग्रह के बहाने तो सिद्धांतवाद की दुहाई देते हुए कुछ भी गढ़े जा सकते हैं । पर यदि भारी बाँध में दरार पड़ने का कारण ढूँढ़ने के लिए गहराई तक उतरा जाय तो प्रतीत होगा कि अहंता की नन्हीं-सी चुहिया ही दुम उठाए, मुँह मटकाती, पंजे दिखाती अपनी करतूत का करिश्मा दिखा रही है ।

व्यवसाय और बच्चों को छोड़कर आने वालों से भी अहंता नहीं छूटती । जिस प्रकार कोई लालची मनोभूमि का मनुष्य भिक्षा-व्यवसाय करके पेट भरने पर भी लगातार कमाता-जोड़ता रहता है और मरते समय चिथड़ों तथा कुल्हड़ों में लाखों की दौलत छोड़ जाता है उसी प्रकार लोक सेवी, अध्यात्मवादी का कलेवर बना लेने पर भी यदि अहंता न छूटी तो पैर पुजाने के लिए अनेकानेक पाखंड रचते, लोगों को ठगते-उलझाते हुए उसे देखा जाएगा । आए दिन कुछ न कुछ करतूतें करते, चमत्कारों की डींग हाँकते तथा और भी न जाने क्या-क्या करते देखा जायगा । ऐसे लोग साथियों के साथ मिल-जुलकर तो रह ही नहीं सकते । समूची संस्था का नेता यदि उन्हें न बनाया गया तो फिर फूट खड़ी करके गुट के नेता बनने का रास्ता तो निकाल ही लेंगे । लोग उनकी बात सुनें, उनका चेहरा देखें, उनकी चर्चा करें इसके आतुर लोग जब सीधा रास्ता नहीं मिलता तो उलटे रास्ते चलते हैं और उपद्रवी-आतंकवादी बनते तथा



अपराधी कृत्य अपनाकर तीसमारखाँ बनने की हविश किसी भी मूल्य पर बुझाते हैं ।

सार्वजनिक जीवन में ऐसे लोगों का घुस पड़ना एक प्रकार से अभिशाप ही सिद्ध होता है । वे जितना जनहित करते हैं, उनकी तुलना में हजार गुना अनर्थ करके रख देते हैं । इसलिए उत्कृष्टता के क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए मनीषियों ने वित्तेषणा (लोभ), पुत्रेषणा (मोह) और लोकेषणा (अहंकार, बड़प्पन) की त्रिविध एषणाओं का परित्याग करने के उपरांत ही श्रेय मार्ग पर पैर बढ़ाने की सलाह दी है । लोकसेवी में नम्रता-निरहंकारिता उत्पन्न करने के लिए प्राचीनकाल में दरवाजे-दरवाजे भिक्षा माँगने के लिए जाना पड़ता था । यों घर बैठे भी भोजन मिलने का प्रबंध ऐसे लोगों के लिए कठिन नहीं है । पर अहंकार गलाने का तो कोई न कोई उपाय चाहिए ही । इसके बिना साधु कैसा ? ब्राह्मण कैसा ? लोकसेवी कैसा ?

सिक्ख गुरुओं में रामदास की बड़ी ख्याति है । उन्हें आश्रम के बर्तन साफ करने का काम सौंपा गया और बिना किसी प्रकार की बेइज्जती अनुभव किए बड़े चाव से करते रहे । जबकि उनके अन्य साथी बड़प्पन के पद पाने के लिए मिन्नतें करते, तिकड़म भिड़ाते और झंझट खड़े करते देखे गए । उनके गुरु ने उत्तराधिकारी का चुनाव करते समय आध्यात्मिकता की वास्तविक गुण संपदा निरहंकारिता रामदास में पाई और उन्हीं को मूर्धन्य स्थान पर बिठा दिया ।

गांधी जी के आश्रम में निवासियों को टट्टी साफ करने, झाड़ू लगाने जैसे छोटे समझे जाने वाले कार्य परिपूर्ण श्रद्धा और तत्परता के साथ करने पड़ते थे । प्रज्ञा मिशन की परंपरा भी यही है ।

प्रत्येक आश्रमवासी को श्रमदान अनिवार्यतः करना पड़ता है और उसमें नाली साफ करने, झाडू लगाने, कूड़ा ढोने जैसे कार्य ही करने होते हैं ।

कई व्यक्ति सोचते हैं–हम संस्था से निर्वाह लेकर काम क्यों करें ? 'अपना खाने' के नाम पर निर्वाह लेने वालों से श्रेष्ठ क्यों न बनें ? कुछ लोग इस कारण काम ही नहीं करते । इस असमंजस के पीछे कोई सिद्धांत काम नहीं करता, मात्र अहंकार ही उछलता है । हजार रुपये मासिक का काम करके यदि कोई सौ रुपया लेता है तो उसका नौ सौ रुपये का अनुदान ही हुआ । शांतिकुंज परंपरा में हर आश्रमवासी को अन्य सभी की तरह निर्वाह आश्रम से ही लेना पड़ता है । उसकी निजी आमदनी या पेंशन है तो वह उसे आश्रम में दान देते रहने के लिए कहा जाता है । लोकसेवी यदि जनता से ब्राह्मणोचित निर्वाह लेता है तो वह वेतन भोगी कर्मचारी नहीं हो जाता वरन् श्रद्धासिक्त निर्वाह दक्षिणा के रूप में प्राप्त करते हुए गौरवान्वित होता है । सच्चे सेवक के लिए ऐसी नम्रता आवश्यक है । अन्यथा वह मुफ्त काम करने का अहंकार जताता रहेगा । संन्यास लेते समय अपने पिता का, वंश का, स्थान का, पूर्व व्यवसाय का पता न बताकर गुरु परंपरा भर की चर्चा करनी होती है ताकि पिछले दिनों के बड़प्पन का उल्लेख करना और दर्प दिखलाना संभव ही न रहे ।

सामान्य जीवन में लालच के वशीभूत होकर लोग न जाने क्या-क्या अपराधी कृत्य करते हैं । मोहग्रस्त अपनी क्षमताओं को एक सँकरी नाली में बहाते हुए गूलर के भुनगों का उदाहरण बनते हैं । अहंकार आमतौर पर छद्म रचने, उच्छृंखलता बरतने और दुष्टता पर उतारू होने के लिए विवश करता है । असामान्य समझे जाने



वाले अध्यात्मवादी भी विलासी, पक्षपाती, अहंकारी दिखाई दें तो समझना चाहिए कि सेवा का आडंबर ओढ़ने पर भी उनका अंतराल कषाय-कल्मषों से भरा रहने के कारण कुछ न कुछ ऐसे कृत्य करता रहेगा जिससे श्रेय-साधक की, उसके अपनाए गए परमार्थ प्रयोजन की गरिमा गिरती ही है, बढ़ती नहीं ।

युगशिल्पियों का नवसृजन में कदम तब बढ़े जब वे लोभ, मोह की हथकड़ी-बेड़ी के निविड भवबंधनों से छुटकारा पायें । इतने पर भी यह आवश्यकता बनी ही रहेगी कि वे अपने साथियों में सबसे छोटे बनकर रहें । हलके से हलका काम मिलने पर बड़प्पन पर आँच आने जैसा अनुभव न करें । श्रेय प्राप्ति का अवसर आने पर उसे दूसरों का उदार सहयोग और श्रम बताकर औरों को प्रशंसा पाने दें । पारस्परिक व्यवहार का स्तर ऐसा रखें जिससे अपनी विनयशीलता और दूसरों को सम्मान देने की भावना का प्रमाण परिचय मिलता रहे । अहंकारी आमतौर से गुंडागर्दी मचाते हैं । जबकि निरहंकारी में सज्जनता, शालीनता, सद्भावना, सादगी, सात्विकता जैसे सद्गुण अनायास ही बढ़ते चले जाते हैं । कहना न होगा कि यह विभूतियाँ ही किसी के बड़ा आदमी, महामानव होने के वास्तविक चिह्न हैं ।

बड़ों का व्यापक दृष्टिकोण होता है और विशाल हृदय । वे अपनी छोटी कठिनाइयों और सुविधा की बात नहीं सोचते रहते वरन् समस्त समाज के हित साधन की, व्यापक समस्याओं के समाधान की बात सोचते हैं । अपने को विशाल विश्व परिवार का एक विनम्र घटक मानते हैं और विराट् को सुखी समुन्नत बनाने के लिए क्षुद्रता को महानता में विसर्जित कर देते हैं । अपने मिशन के हर युगशिल्पी को ऐसा ही होना चाहिए । ●

# भावभरा परामर्श जिसे हृदयंगम करना ही श्रेयस्कर है

अपने इस हरे-भरे उद्यान परिवार के फले-फूले परिजन वट वृक्षों से हम कुछ आशा-अपेक्षा रखें तो उसे अनुचित नहीं कहा जाना चाहिए । उनके लिए कुछ भाव भरा संदेश प्रस्तुत करें तो इसे उचित और उपयुक्त ही माना जाना चाहिए । हमारा प्रत्येक परिजन को बहुत ही मार्मिक और दूरदर्शिता भरा परामर्श है, उन्हें गंभीरतापूर्वक लिया जाना चाहिए । उन पर चिंतन-मनन किया जाना चाहिए और यदि वे उचित जँचे तो तदनुकूल अपनी मनोभूमि एवं क्रिया पद्धति में ढालने के लिए विचार किया जाना चाहिए ।

हमारा पहला परामर्श यह है कि :-

अब किसी को भी धन का लालच नहीं करना चाहिए और बेटे-पोतों को दौलत छोड़कर मरने की विडंबना में नहीं उलझना चाहिए । यह दोनों ही प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होंगे । अगला जमाना जिस तेजी से बदल रहा है उससे इन दोनों विडंबनाओं से कोई कुछ लाभान्वित न हो सकेगा वरन् लोभ और मोह की इस दुष्प्रवृत्ति के कारण सर्वत्र धिक्कारा जाएगा । दौलत छिन जाने का दुख और पश्चाताप सताएगा सो अलग । इसलिए यह परामर्श हर दृष्टि से सही ही सिद्ध होगा कि मानव जीवन जैसी महान उपलब्धि का व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए उतना ही अंश खर्च करना चाहिए जितना निर्वाह के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हो । इस मान्यता को हृदयंगम किए बिना आज की युग पुकार के लिए किसी के लिए कुछ ठोस कार्य कर सकना संभव न होगा । एक ओर की दिशा से मुड़े बिना दूसरी दिशा में चल सकना संभव ही न होगा । लोभ-मोह में जो डूबा हुआ



होगा उसे लोक मंगल के लिए न समय मिलेगा, न सुविधा ।

हमको सामान्य नागरिक जैसे स्तर की सादगी और मितव्ययिता पूर्ण जीवन स्तर बनाकर स्वल्प व्यय में गुजारे की व्यवस्था बनानी चाहिए और परिवार को स्वावलंबी बनाने की योग्यता उत्पन्न करने और हाथ-पाँव से कमाने में समर्थ बनाकर उन्हें अपना वजन आप उठा सकने की राह पर चलने देना चाहिए । बेटे-पोतों के लिए अपनी कमाई दौलत छोड़कर मरना भारत की असंख्य कुरीतियों और दुष्परंपराओं में से एक है । संसार में अन्यत्र ऐसा नहीं होता ।

लोग अपनी बची हुई कमाई को जहाँ उचित समझते हैं वसीयत कर जाते हैं । इसमें न लड़कों को शिकायत होती है, न बाप को कंजूस-कृपण की गालियाँ पड़ती हैं । सो हम लोगों में से जो विचारशील हैं, उन्हें तो ऐसा साहस इकट्ठा करना चाहिए । समय, श्रम, मन और धन को अधिकाधिक विश्व मानव की सेवा में समर्पण कर सकने की स्थिति तभी बनेगी जब लोभ और मोह के खरदूषण कुछ अवसर मिलने दें । लोभ और मोह ग्रस्त को आपापूर्ति से ही फुरसत नहीं, बेचारा लोक मंगल के लिए कहाँ से कुछ निकाल सकेगा और इसके बिना जीवन साधना का स्वरूप ही क्या बन पड़ेगा ?

जिनके पास गुजारे भर के लिए पैतृक संपत्ति मौजूद है उनके लिए यही उचित है कि आगे के लिए उपार्जन बिल्कुल बंद कर दें और सारा समय परमार्थ के लिए लगावें । प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि सुयोग्य स्त्री-पुरुषों में से एक कमाए, घर खर्च चलाए और दूसरे को लोक मंगल में प्रवृत्त होने की छूट दे दे । संयुक्त परिवारों में से एक व्यक्ति विश्व सेवा के लिए निकाला जाय और उसका खर्च परिवार वहन करे । जिनके पास संग्रहीत पूँजी नहीं है, रोज कमाते

रोज खाते हैं, उन्हें भी परिवार का एक अतिरिक्त सदस्य बेटा 'लोकमंगल' को मान लेना चाहिए और उसके लिए जितना श्रम, समय और धन अन्य परिवारियों पर खर्च होता है उतना तो करना ही चाहिए ।

(२) परमार्थ प्रवृत्तियों का शोषण करने वाली इस विडंबना से हममें से हर एक को बाहर निकल आना चाहिए कि ईश्वर एक व्यक्ति है और वह कुछ पदार्थ अथवा प्रशंसा का भूखा है । उसे रिश्वत या खुशामद का प्रलोभन देकर उल्लू बनाया जा सकता है और मनोकामना तथा स्वर्ग प्राप्ति की आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए लुभाया जा सकता है । इस अज्ञान में भटकता हुआ जन समाज अपनी बहुमूल्य शक्तियों को निरर्थक विडंबनाओं में बर्बाद करता रहता है । वस्तुतः ईश्वर एक शक्ति है जो अंतःचेतना के रूप में, सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों के रूप में हमारे अंतरंग में विकसित होती है । ईश्वर भक्ति का रूप पूजा-पत्री की टंट-घंट नहीं, विश्व मानव के भावनात्मक दृष्टि से सुसंपन्न बनाने का प्रबल पुरुषार्थ ही हो सकता है । देवताओं की प्रतिमाएँ तो ध्यान के मनोवैज्ञानिक व्यायाम की आवश्यकता पूर्ति करने की धारणा मात्र है ।

हमारा परामर्श है कि परिजन कल्पित ईश्वर की खुशामद में बहुत सिर न फोड़ें । अपने अंतरंग को और विश्व मानव को समुन्नत करने के प्रयत्नों में जुट जावें और त्याग-बलिदान को वास्तविक ईश्वर भक्ति तथा तपश्चर्या समझें । इस प्रक्रिया को अपनाकर वे ईश्वर अनुग्रह जल्दी प्राप्त कर सकेंगे । पूजा-उपासना का मूल प्रयोजन अंतरंग पर चढ़े हुए मल आवरण, विक्षेपों पर साबुन लगाकर अपने ज्ञान और कर्म को अधिकाधिक परिष्कृत करना भर है । ईश्वर को न किसी की खुशामद पसंद है, न धूप, दीप, बिना उसका कोई काम रुका पड़ा



है । व्यक्तित्व को परिष्कृत और उदार बनाकर ही हम ईश्वरीय अनुग्रह के अधिकारी बन सकते हैं । इस तथ्य को हमारा हर परिजन हृदयंगम कर ले तो वह मंत्र तंत्र में उलझा रहने की अपेक्षा उस दिशा में बहुत दूर तक चल सकता है जिससे कि विश्व कल्याण और ईश्वरीय प्रसन्नता के दोनों आधार अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं ।

(३) परिवार के प्रति हमें सच्चे अर्थों में कर्तव्यपरायण और उत्तरदायित्व निर्वाह करने वाला होना चाहिए । आज मोह के तमसाछन्न वातावरण में जहाँ बड़े लोग छोटों के लिए दौलत छोड़ने की हविश में और उन्हीं की गुलामी करने में मरते-खपते रहते हैं, वहाँ घर वाले भी इस शहद की मक्खी को हाथ से नहीं निकलने देना चाहते जिसकी कमाई पर दूसरे ही गुलछर्रे उड़ाते हैं । आज के स्त्री-बच्चे यह बिल्कुल पसंद नहीं करते कि उनका पिता या पति उनको लाभ देने के अतिरिक्त लोक मंगल जैसे कार्यों में कुछ समय या धन खर्च करे । इस दिशा में कुछ करने पर घर का विरोध सहना पड़ेगा । उन्हें आशंका रहती है कि कहीं इस ओर दिलचस्पी लेने लगे तो अपने लिए जो मिलता था उसका प्रवाह दूसरी ओर मुड़ जाएगा । ऐसी दशा में स्वार्थ, संकीर्णता के वातावरण में पले उन लोगों का विरोध उनकी दृष्टि में उचित भी है । पर उच्च आदर्शों की पूर्ति उनके अनुगमन में संभव ही नहीं रहती ।

यह सोचना क्लिष्ट कल्पना है कि घर वालों को सहमत करने के बाद तब परमार्थ के लिए कदम उठाएँगे । वह पूरा जीवन समाप्त हो जाने पर भी संभव न होगा । जिन्हें वस्तुतः कुछ करना हो, उन्हें अज्ञानग्रस्त समाज के विरोध की चिंता न करने की तरह परिवार के अनुचित प्रतिबंध को भी उपेक्षा के गर्त में ही डालना पड़ेगा । घर वाले जो कहें, जो चाहें वही किया जाय यह आवश्यक नहीं । हमें

मोहग्रस्त नहीं विवेकवान होना चाहिए और पारिवारिक कर्तव्यों की उचित मर्यादा का पालन करते हुए उन लोभ एवं मोह भरे अनुबंधों की उपेक्षा ही करना चाहिए, जो हमारी क्षमता को लोकमंगल में न लगने देकर कुटुंबियों की ही सुख-सुविधा में नियोजित किए रहना चाहते हैं । इस प्रकार का पारिवारिक विरोध आरंभ में हर महामानव और श्रम पथ के पथिक को सहना पड़ा है । अनुकूलता पीछे आ गई वह बात दूसरी, पर आरंभ में श्रेयार्थी को परिवार के इशारे पर गतिविधियाँ निर्धारित करने की अपेक्षा आत्मा की पुकार को ही प्रधानता देने का निर्णय करना पड़ा है ।

(४) पुण्य परमार्थ की अंत:चेतना यदि मन में जागे तो उसे सस्ती वाहवाही लूटने की मानसिक दुर्बलता से टकराकर चूर-चूर न हो जाने दिया जाय । आमतौर से लोगों की ओछी प्रवृत्ति नामवरी लूटने का दूसरा नाम पुण्य मान बैठती है और ऐसे काम करती है जिनकी वास्तविक उपयोगिता भले ही नगण्य हो, पर उनका विज्ञापन अधिक हो जाय । मंदिर जन जागृति के केन्द्र रहा करते थे । वे परिस्थितियाँ चली गईं जबकि धर्म प्रचारकों और पैदल यात्रा करने वाले पथिकों के लिए विश्राम गृहों की आवश्यकता पड़ती थी । अब व्यापारिक या शादी-विवाह संबंधी स्वार्थपरक कार्यों के लिए लोगों को किराया देकर ठहरना या ठहराना ही उचित है । मुफ्त की सुविधा वे क्यों लें और क्यों दें ? कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह के विडंबनात्मक कार्यों में शक्ति का अपव्यय बचाया जाना चाहिए और उसे जनमानस के परिष्कार कर सकने वाले कार्यों की एक ही दिशा में लगाया जाना चाहिए ।

आज की समस्त उलझनों और विपत्तियों का मात्र एक ही कारण है मनुष्य की विचार विकृति । दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों ने



ही शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, राजनैतिक संकट खड़े किए हैं । बाह्य उपचारों से पत्ते सींचने से कुछ बन नहीं पड़ेगा, हमें मूल तक जाना चाहिए और जहाँ से संकल्प उत्पन्न होते हैं उस छेद को बंद करना चाहिए । कहना न होगा कि विचारों और भावनाओं का स्तर गिर जाना ही समस्त संकटों का केन्द्रबिंदु है । हमें इसी मर्म स्थल पर तीर चलाने चाहिए । हमें ज्ञान यज्ञ और विचार क्रांति को ही इस युग की सर्वोपरि आवश्यकता एवं समस्त विकृतियों की एकमात्र चिकित्सा मानकर चलना चाहिए और उन उपायों को अपनाना चाहिए जिससे मानवीय विचारणा एवं आकांक्षा को निकृष्टता से विरत कर उत्कृष्टता का स्तर उन्मुख किया जा सके । ज्ञानयज्ञ की सारी योजना इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर बनाई गई है ।

हमें अर्जुन को लक्ष्य भेदते समय मछली की आँख देखने की तरह केवल युग की आवश्यकता - विचार क्रांति पर ही ध्यान एकत्र करना चाहिए और केवल उन्हीं परमार्थ प्रयोजनों को हाथ में लेना चाहिए जो ज्ञानयज्ञ के पुण्य प्रयोजन को पूरा कर सके । अमान्य कार्यक्रमों से हमें अपना मन बिल्कुल हटा लेना चाहिए, शक्ति बिखेर देने से कोई काम पूरा नहीं हो सकता । जो परमार्थ भावना से सचमुच कुछ करना चाहते हों तो उस कार्य को हजार बार इस कसौटी पर कस लें कि इस प्रयोग से आज की मानवीय दुर्बुद्धि को उलटने के लिए अभीष्ट प्रबल पुरुषार्थ की पूर्ति इससे होती है या नहीं ।

शारीरिक सुख सुविधाएँ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों को अभी कुछ समय रोका जा सकता है, वे पीछे भी हो सकते हैं पर आज की तात्कालिक आवश्यकता तो विचार क्रांति एवं भावनात्मक नव निर्माण ही है । सो उसी को आपत्ति धर्म, युग धर्म मानकर सर्वतो

भावेन हमें उसी आयोजन में निरत हो जाना चाहिए । ज्ञानयज्ञ के कार्य इमारतों की तरह प्रत्यक्ष नहीं दीखते और स्मारक की तरह वाहवाही का प्रयोजन पूरा नहीं करते तो भी उपयोगिता की दृष्टि से ईंट-चूने की इमारतें बनाने की अपेक्षा इन भावनात्मक परमार्थों का परिणाम लाख-करोड़ गुना अधिक है । हमें वाहवाही लूटने की तुच्छता से आगे बढ़कर वे कार्य हाथ में लेने चाहिए जिनके ऊपर मानव जाति का भाग्य और भविष्य निर्भर है । यह प्रक्रिया ज्ञानयज्ञ का होता स्वयं बने बिना और किसी तरह पूरी नहीं होती ।

लोभ, मोह के बंधन काटने और अज्ञान, प्रलोभन से ऊँचा उठने पर ही जीवनोद्देश्य पूरा कर सकने वाले सही मार्ग पर चल सकते हैं । सो इसके लिए हमें आवश्यक साहस जुटाना चाहिए । इतने से कम में कोई व्यक्ति युग निर्माताओं, महामानवों की पंक्ति में खड़ा नहीं हो सकता । इन चार कसौटियों पर हमें खरा सिद्ध होना चाहिए । फौज में भर्ती करते समय नए रंगरूटों की लंबाई, वजन, सीना तथा निरोगिता जाँची जाती है तब कहीं प्रवेश मिलता है । बड़प्पन की तृष्णा में मरने-खपने वाले नर पशुओं के वर्ग से निकलकर जिन्हें नर-नारायण बनने की उमंग उठे उन्हें उपरोक्त चार प्रयोजनों को अधिकाधिक मात्रा में हृदयंगम करने तथा तदनुकूल आचरण करने का साहस जुटाना चाहिए । यदि यह परिवर्तन प्रस्तुत जीवनक्रम में न किया जाय तो मनोविनोद के लिए कुछ छुटपुट भले ही चलता रहे कोई महत्वपूर्ण ऐसा कार्य एवं प्रयोग न बन सकेगा जिससे आत्म कल्याण और लोक मंगल की संतोषजनक भूमिका संपन्न हो सके ।

◉

मुद्रक – युग निर्माण प्रेस, मथुरा ।